दिगंबरजैनग्रंथमाला नं.

श्रीवीतरागाय नमः ।

सोलहकारन धर्म ।

(सोलहकारन महिमा और पुष्पांजलीव्रत-कथा सहित)

लेखक—

पं. दीपचन्द्रजी-नरसिंहपुर (C. P.)

प्रकाशक—

मूलचन्द किसनदास कापड़िया-सूरत

प्रथमावृत्ति. वीर सं. २४४२. प्रति २४००.

बम्बईनिवासी सेठ लल्लुभाई लक्ष्मीचंद्रजी चौकसी की स्वर्गीय सौ. पत्नी नवीबाई उर्फ हीराकोरके स्मरणार्थ "दिगंबर जैन" पत्रके ग्राहकोंको नववें वर्षका पांचवाँ उपहार ।

मूल्य रु. ०-६-०

मुद्रक-
मूलचन्द किसनदास कापड़िया
ठि.-'जैन विजय' प्रिन्टिंग प्रेस,
खपाटियाचकला, लक्ष्मीनाराणकी
वाडी-सूरत.

♣ ♣ ♣

प्रकाशक-
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
टि.-खपाटियाचकला, चंदावाडी-
सूरत.

प्रस्तावना।

गत वर्षमें हमने 'दशलक्षणधर्म' नामकी पुस्तक 'दिगंबर जैन' के उपहारस्वरूप प्रकट की थी जो कि श्रीदशलक्षणपर्वमें प्रतिदिन एक २ धर्मका विवेचन शास्त्रसभामें सुनानेके लिये बहुत ही उपयोगी मालूम हुई इसलिये दशलक्षणपर्वके साथ २ सोलहकारन व्रत भी एक मासका किया जाता है जिसमें प्रतिदिन बांचनेके लिये दर्शनविशुद्धयादि सोलह भावनाओंके स्वरूपकी एक अलग पुस्तक प्रगट होनेकी भी बड़ी आवश्यकता थी जिसकी पूर्ति हमने पं. दीपचंदजी उपदेशक (नरसिंहपुर सी. पी.) से यह 'सोलह-कारन धर्म' ग्रन्थ शास्त्रोंके आधारसे लिखवा कर और उसको प्रकट करके की है।

इस ग्रन्थमे दर्शनविशुद्धयादि सोलह भावनाओंके स्वरूपके अतिरिक्त सोलहकारनकी महिमाका पद्य भी शामिल किया है। और **पुष्पांजलीव्रतकी कथा भी** इसलिये शामिल की गई है कि इस ग्रन्थको **'दिगंबर जैन'** के ग्राहकोंको नववें वर्षमें **पांचवां उपहार**-स्वरूप बांटनेवाले बम्बईनिवासी श्रीमान् सेठ लल्लुभाई लक्ष्मीचन्द चौकसीकी सौ० पत्नी नवीबाई उर्फे हीराकोरबाईने वीर सं. २४३९ में पुष्पांजलीव्रत किया था उसके उपलक्षमें कोई पुस्तक उपहार स्वरूप बांटनेके लिये कुछ रकम निकाली गई थी और फिर सौ० नवीबाईका मृत्यु गत वर्षमें होनेपर सेठ लल्लुभाईने उनके स्मरणार्थ शास्त्रदानके लिये अच्छी रकम निकाली थी जिससे यह ग्रन्थ स्वर्गीय सौ. नवीबाई उर्फे हीराकोरबाईके स्मरणार्थ

(उनका फोटो सहित) प्रकट किया जाता है और सौ० नवीबाईने पुष्पांजलीव्रत किया था इसलिये यह पुष्पांजलीव्रत कथा इसमें शामिल की गई है यह, भी पुष्पांजली व्रतका माहात्म्य जाननेके लिये हमारे पाठकोंको उपयोगी होगी । अन्तमें हम इतना ही कहेंगे कि ऐसे शास्त्रदानका अनुकरण हमारे हिन्दी पाठक भी अब तो करेंगे ऐसी हमें पूर्ण उम्मेद है।

वीर सं. २४४२
ज्येष्ठ वदी १०
ता. २५-६-१६

जैनजातिसेवक:-
मूलचन्द किसनदास कापड़िया-सूरत



स्वर्गवासी नवीबाई उर्फे हीराकोरबाई.

(मुंबईनिवासी सेठ लल्लुभाई लक्ष्मीचंद चौकसीकी स्वर्गवासी सौ. पत्नि)

जन्म सं. १९४४ मृत्यु सं. १९७१.

'जैन विजय'' प्रेस-सूरत.

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

सोलहकारनधर्म ।

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नताशीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोगसंवेगौशक्तितस्त्यागतपसीसाधुसमाधिर्वैया-वृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरि-हाणिमार्गप्रभावनाप्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥२४॥

(इति तत्वार्थसूत्र अ० ६)

अर्थ—दर्शनशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शीलव्रतेषु अनतिचार, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, संवेग, शक्तितःत्याग, तप, साधुसमाधि, वैयावृत्य करण, अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, उपाध्यायभक्ति, प्रवचन भक्ति, आवश्यकापरिहाणि, मार्गप्रभावना, प्रवचनवत्सलत्व ये **सोलह कारण भावनायें** हैं। इनके भावने अर्थात् बार २ चिंतवन करनेसे तीर्थंकर प्रकृतिका आश्रव होता है।

भावार्थ—आश्रव दो प्रकारका होता है। (१) शुभ, (२) अशुभ। शुभाश्रवको पुण्य और अशुभाश्रवको पाप कहते हैं। आश्रव अर्थात् जीवके रागद्वेषादि चैतन्य भावोंके द्वारा काय, वचन और मनकी प्रवृत्तिसे ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मोंके परमाणुवोंका आत्माकी ओर आना।

इन द्रव्यकर्मोंके घाति अघाति रूपसे दो भेद हैं। **ज्ञानावरण** (ज्ञानको न प्रगट होने देनेवाला), **दर्शनावरण** (देखनेकी शक्तिको रोकनेवाला), **अंतराय** (आत्मोपकारी कारणोंमें विघ्न करनेवाला) और **मोहनी** (स्वस्वरूपसे भिन्न प्रवृत्ति करानेवाला) ये चारों **घाति-कर्म** कहे जाते हैं। क्योंकि ये आत्माके स्वरूपका घात करनेवाले हैं इसलिये ये चारों अशुभ (पाप) ही हैं।

और **आयु** (किसी भी गतिमें किसी नियतकालतक स्थिर रखनेवाला), **नाम** (अनेक प्रकारके आकार, प्रकार, रूप, गति आदिको प्राप्त करानेवाला), **गोत्र** (ऊंचनीचकी कल्पना करानेवाला) और **वेदनी** (सुखदुखरूप सामग्री मिलानेवाला) ये चारों कर्म अघाति कहे जाते हैं। क्योंकि ये बाह्य कारण स्वरूप ही हैं। घाति कर्मोंके अभाव होते हुवे ये स्वयम् आत्माका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सक्ते हैं। ये पुण्यरूप (शुभ) और पापरूप (अशुभ) दोनों प्रकारके होते हैं। अर्थात् इनकी कितनी प्रकृतियां पुण्यरूप हैं, और कितनीक पापरूप हैं। इन पुण्य प्रकृतियोंमें सबसे उत्तम नामकर्मकी **तीर्थंकर प्रकृति** है अर्थात् त्रैलोक्यमें तीर्थंकरके समान किसीका भी पुण्य तीव्र नहीं होता है। देव देवेन्द्र, नर नरेन्द्र, खग खगेन्द्र, पशु पशेन्द्र सब ही तीर्थंकर भगवानके सेवक होते हैं। और जिस भवमें तीर्थंकर प्रकृतिका उदय होता है, उसी भवसे यह जीव सम्पूर्ण घाति अघाति कर्मोंका नाश कर सिद्धपद (निर्वाण)को प्राप्त होता है। इसलिये यह तीर्थंकर प्रकृति सर्वथा उपादेय (प्राप्त करने योग्य) है।

उपर्युक्त सोलह भावनावोंका निरंतर विचार करने व उनके अनुसार प्रवृत्ति करनेसे ही तीर्थंकर प्रकृतिका आश्रव होता है। इसलिये यहां उन्हीं सोलह भावनावोंका स्वरूप विशेष रूपसे वर्णन किया जाता है।

सबसे प्रथम और मुख्य भावना दर्शनविशुद्धि है। क्योंकि दर्शन (सम्यक्दर्शन या सम्यक्त्व) की शुद्धता विना शेष भावनायें कार्यकारी नहीं हो सक्ती हैं। कहा है—

दर्शनं ज्ञानचारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्ष्यते॥ ३१॥
विद्यावृत्तस्य संभूति स्थितिवृद्धिफलोदयाः।
न सन्त्य सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव॥ ३२॥
(रत्नकरंड श्रावकाचार अ० १)

अर्थात्—ज्ञान और चारित्रकी अपेक्षा सम्यग्दर्शन मुख्यतया उपासना किया जाता है। क्योंकि वह मोक्षमार्गमें खेवटियाके समान कहा जाता है। जैसे बीजके विना वृक्षके स्थिति आदिकी संभावना ही नहीं होती है उसी प्रकार सम्यक्त्वके विना ज्ञान और चारित्रके स्थिति वृद्धि और फलदातृत्व नहीं होता है। इसलिये प्रथम ही दर्शनविशुद्धि भावनाको कहते हैं—

(१) दर्शनविशुद्धि ।

आत्मा (जीव) का वह गुण, जो अनन्तानुबंधी क्रोध, अनन्तानुबंधी मान, अनन्तानुबंधी माया, अनन्तानुबंधी लोभ और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति मिथ्यात्व इन सात कर्मकी प्रकृतियोंके उपशम व क्षयोपशम व क्षय होनेसे प्रगट होता है ; उसे सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

यह सम्यग्दर्शन दो प्रकारका होता है । निश्चय, और व्यवहार ।

निश्चय सम्यग्दर्शन सत्यार्थ स्वरूप अर्थात् पुद्गलादि पर द्रव्योंसे भिन्न निज शुद्ध स्वरूपका श्रद्धान होनेको कहते हैं । ऐसा ही कविवर पंडित दौलतरामजीने कहा है—

पर द्रव्यनतें भिन्न आपमें रुचि सम्यक्त्व भला है ।

(छह ढाला)

व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शनके कारण जीवादि प्रयोजनभूत तत्वोंके तथा इन (तत्वों) के प्ररूपण करनेवाले सच्चे देव, सच्चे गुरु, और, सच्चे शास्त्र (धर्म) के श्रद्धानको कहते हैं—

यहांपर कारणमें कार्यका आरोपण करके (उपचारसे) यह कथन किया जाता है—

व्यवहार सम्यग्दर्शनका स्वरूप भगवान उमास्वामीने इस प्रकार किया है—

तत्वार्थश्रद्धानम् सम्यग्दर्शनम् ॥२॥

(तत्वार्थसूत्र अ० १)

अर्थ—जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सातों तत्वोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते है।

और पंडित मेधाविने निम्नप्रकार कहा है—

आप्तात्परो न देवोस्ति धर्मोप्याप्तोदिताच्च हि।
निर्ग्रन्थाद् गुरुरन्यो न सम्यक्त्वमिति रोचनम् ॥२०॥

(धर्मसंग्रहश्रावकाचार अ० ४)

अर्थ—आप्त, (सर्वज्ञ, वीतराग और हितोपदेशीपनेको धारण करनेवाले देव) और आप्त ही का कहा हुवा धर्म (जिनधर्म) तथा निर्ग्रन्थ गुरू (सब प्रकारके वाह्याभ्यंतर परिग्रहसे रहित वीतराग मार्गपर चलनेवाले) के सिवाय अन्य रागी द्वेषी देव, हिंसामई विषयकषायोंके पुष्ट करनेवाले धर्म, और भेषी या सपरिग्रही गुरुवोंको कल्याणकारी नहीं मानता है। अर्थात् सत्यार्थ देव, गुरु, और धर्मका पक्का श्रद्धान होना सो सम्यग्दर्शन है।

इसी प्रकार भिन्न भिन्न आचार्योंने कार्य, कारण, व निश्चय व्यवहारकी मुख्यता व गौणतासे भिन्न भिन्न प्रकार कहा है। परंतु तात्पर्य सबका एक ही है। अर्थात् स्वस्वरूपके श्रद्धान होने (भेद विज्ञानको प्राप्त होने) के लिये जीवादि तत्वोंका यथार्थ श्रद्धान होना आवश्यक है। और इन (जीवादि) तत्वोंके श्रद्धान करानेके लिये उनके कथन करनेवाले आप्त (देव), आगम (धर्म) और गुरुका श्रद्धान होना आवश्यक हैं। इस लिये कारणमें कार्यका

आरोपण करके यह कहा गया है क्योंकि देव, गुरु, धर्मके श्रद्धानसे जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान होता है। और जीवादि तत्वोंके श्रद्धानसे निज स्वरूपका श्रद्धान होता है। निज स्वरूपका श्रद्धान होना ही कार्य है। और शेष दोनों लक्षण उत्तरोत्तर कारण स्वरूप हैं-व्यवहार स्वरूप हैं।

जीवादि तत्वोंका विवेचन द्रव्यसंग्रह गोमटसार सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रंथोंमें विशेष रूपसे कथन किया गया है परंतु संक्षिप्त रूपसे यहां भी कुछ कहते हैं-

तत्त्व—पदार्थके यथार्थ स्वरूपको कहते हैं। सो पदार्थको उसके यथार्थ स्वरूप सहित दृढ श्रद्धान करना। यही तत्त्वार्थ श्रद्धान हैं। तत्त्वको पदार्थ द्रव्य वस्तु इत्यादि अनेक नामोंसे पुकारते हैं।

तत्त्व—मुख्यतया दो प्रकारके हैं जीव और अजीव।

जीव—उसे कहते हैं जो दर्शनज्ञान संयुक्त चैतन्य पदार्थ हो। यह जीव अमूर्तीक अखंड द्रव्य है। लोकमें जीव अनन्तानन्त हैं। उनमें जो जीव सम्पूर्ण कर्मोंको नाश कर मोक्षपदको प्राप्त हुए हैं वे सिद्ध जीव कहाते हैं। वे संसार परिभ्रमणसे रहित स्वस्वरूपमें लीन हुए लोकशिखरके अंत तनवातवलयमें नित्य शुद्ध परमात्म स्वरूपसे तिष्ठे हैं। और जो जीव कर्म सहित हैं, वे संसारमें देव, नरक, पशु, और मनुष्य आदि चतुर्गतियोंमें नाना

१ देखो विश्व तत्त्व चार्ट नं० १

रूप धरते हुवे, स्वस्वरूपको भूले हुवे, परिभ्रमण करते हैं। ये संसारी जीव कहाते हैं। यही संसारी जीव कर्मोंको नाश कर सिद्ध (परमात्म) पद प्राप्त कर सक्ते हैं।

अजीव—उसे कहते हैं जो चैतन्यता रहित अर्थात् जड़ हो। उसके छः भेद हैं—अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

अजीव दो प्रकारका होता है। मूर्तीक और अमूर्तीक। मूर्तीक (रूपी) जो स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्ण सहित हो। इसे पुद्गल द्रव्य भी कहते हैं। यह अणु और स्कंध रूपसे दो प्रकारका होता है।

अणु—पुद्गलका वह छोटेसे छोटा भाग है, कि जिसका दूसरा भाग न हो सके।

स्कंध—दो आदि संख्यात, असंख्यात तथा अनंत अणुवोंके एक बंधानरूप पिण्डको कहते हैं। पुद्गल द्रव्य भी लोकमें अनन्तानन्त हैं।

अमूर्तीक—जो स्पर्श, गन्ध, और वर्ण रहित हों।

यह चार प्रकारका होता है-धर्म, अधर्म, काल और आकाश।

धर्म द्रव्य—जो पदार्थ जीव और पुद्गलको चलनेमें उदासीन रूपसे सहकारी कारण मात्र हो, प्रेरक न हो जैसे मछलीको पानी। यह समस्त लोकाकाशमें व्याप्त अखंड असंख्यात प्रदेशी एक ही द्रव्य है।

अधर्म द्रव्य—जो पदार्थ जीव पुद्गलको स्थिर रहनेमें उदासीन रूपसे सहकारी कारण मात्र हो, प्रेरक न हो। जैसे पथिकको

वृक्षकी शीतल छाया। यह द्रव्य भी धर्मद्रव्यके समान समस्त लोकाकाशमें व्याप्त अखंड असंख्यात प्रदेशी एक ही द्रव्य है।

काल द्रव्य—वह पदार्थ है (कोई कोई आचार्य कालको द्रव्य उपचारसे मानते हैं) जो पदार्थोंकी अवस्था बदलनेमें उदासीन रूपसे निमित्त कारण हो। यह निश्चय और व्यवहार दो प्रकारका होता है।

निश्चय काल—केवल वर्तनारूप है, इसके असंख्यात प्रदेश परस्पर एक दूसरेसे भिन्न हैं जो कभी नहीं मिलते हैं इसीसे इसको अकाय भी कहते हैं।

व्यवहार काल—घड़ी घंटा दिवस आदिकी कल्पना रूप है।

आकाश द्रव्य—वह पदार्थ है। जो जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और काल आदि द्रव्योंको अवगाहना (स्थान) दे, यह भी दो प्रकार है—लोकाकाश और अलोकाकाश।

लोकाकाश—जहां उक्त जीवादि पांच द्रव्यें पाई जावें।

अलोकाकाश—जहां पर केवल आकाश मात्र ही हो। इसी अनंत अलोकाकाशके मध्यमें असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश है। यह भी अखंड एक द्रव्य है।

आश्रव—जीवके रागद्वेषादि चैतन्यभावोंके द्वारा योगोंकी प्रवृत्तिसे पुद्गल (द्रव्य) कर्म परमाणुवोंका जीवकी ओर आना। यह शुभ और अशुभ दो प्रकारका होता है।

शुभ अर्थात् पुण्य और अशुभ अर्थात् पाप।

बन्ध—योग और कषायोंके निमित्तसे जीव और पुद्गल कर्म परमाणुवोंका एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध होना—आश्रवके भेदसे यह भी शुभाशुभ दो भेदरूप होता है।

संवर—आते हुवे कर्मपरमाणुवोंको योग निरोध करके आनेसे रोकना।

निर्जरा—पूर्व कालके बंधे हुवे कर्मपरमाणुवोंका क्रमक्रमसे तपश्चरणादिके निमित्तसे छुड़ाना।

मोक्ष—बंधे हुवे सम्पूर्ण कर्मोंका जीवसे सर्वथा सम्बन्ध छूट जाना।

इस प्रकार संक्षेपसे तत्त्वोंका स्वरूप कह कर अब देव, धर्म और गुरूका स्वरूप कहते है—

सत्यार्थ देवका स्वरूप।

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥५॥
क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥६॥

(रत्नकरंडश्रावकाचार अ० १)

अर्थ—नियमसे जो वीतराग अर्थात् क्षुधा, तृषा, बुढ़ापा, रोग, जन्म, मरण, भय, गर्व, राग, द्वेष, मोह, चिंता, रति, अरति, स्वेद, खेद, निद्रा, और आश्चर्य, इत्यादि दोषोंसे रहित, सर्वज्ञ अर्थात् अलोक सहित तीनों लोकके समस्त पदार्थोंको उनकी

त्रिकालवर्ती पर्यायों सहित एक ही समयमें जाननेवाला, और हितोपदेशी अर्थात् वस्तु स्वरूपका यथार्थ कथन करनेवाला ही आप्त (देव) होता है। अन्यथा देवपना नहीं हो सक्ता है।

सत्यार्थ गुरुका स्वरूप।

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥१०॥

(रत्नकरंडश्रा० अ० १)

अर्थ—जो पांचों इंद्रियोंके विषयोंकी आशाके वशसे रहित हो, आरंभ रहित हो, दश प्रकार बाह्य (क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य, और भांड) और चौदह प्रकार अंतरंग (मिथ्यात्व, क्रोध, मान, मायाँ, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, ग्लानि, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद) परिग्रहोंसे रहित हो। ज्ञान (सम्यग्ज्ञान), ध्यान (धर्म या शुक्ल ध्यान), तप (अनशन, ऊनोदर, अवमोदर्य, व्रतपरिसंख्यान, रस परित्याग और कायक्लेश अर्थात् परिषह तथा उपसर्ग सहन करना ये ६ प्रकार बाह्य तप और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छः अभ्यंतर तप इस प्रकार तपश्चरण) में लवलीन हो, वह तपस्वी अर्थात् गुरु प्रशंसा करने योग्य है।

सत्यार्थ शास्त्र (धर्म) का स्वरूप।

आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥९॥

(र० क० श्रा० अ० १)

अर्थ—जो आप्तका कहा हुवा हो, वादी प्रतिवादियों द्वारा खंडन न किया जा सके, प्रत्यक्ष व अनुमानादि प्रमाणोंसे विरोध रहित हो, पूर्वापर दोष रहित हो, वस्तु स्वरूपका उपदेश करनेवाला हो, सब जीवोंका हितकारक हो, और मिथ्यामार्गको खंडन करनेवाला हो, सो ही सत्यार्थशास्त्र (धर्म) है।

ऊपर कहे अनुसार तत्त्वों तथा देव, धर्म, गुरुका श्रद्धान करते हुवे सम्यग्दर्शनको बढ़ानेवाले अष्ट अङ्गोंको भी धारण करना चाहिये क्योंकि कहा है -

दर्शनम् नाङ्गहीनं स्यादलं छेत्तुं भवावलिम् ।
मात्रा हीनस्तु किम् मंत्रो विषमूर्च्छां निरस्यति ॥६०॥

(धर्मसंग्रहश्रावकाचार अ० ४)

अर्थ—अङ्गहीन सम्यग्दर्शन संसारसंततिको छेदनेको समर्थ नहीं है, जिसप्रकार मात्राहीन मंत्र विषवेदनाको दूर नहीं कर सक्ता है। इसलिये निम्नलिखित अष्ट अङ्गोंको भी धारण करना आवश्यक है।

(१) **निःशाङ्कित**—अर्थात् जिनागममें शंका न करना, परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि समझनेमें न आवे तो पूछना भी नहीं, प्रश्न भी नहीं करना, केवल समझें व न समझें परंतु हां हां महाराज, जी महाराज कहते जाना इत्यादि। किन्तु अभिप्राय यह है कि मनमें यह दृढ श्रद्धान रखना कि जिनेंद्र भगवानने तत्त्वका जो स्वरूप कहा है, वह तो यथार्थ ही है। परंतु मेरी बुद्धिमंदताके कारण समझमें नहीं आया इसलिये समझनेके अभिप्रायसे (जिज्ञासुभावसे)

तर्कवितर्कों द्वारा प्रश्न करके समझनेमें निःशङ्कित अङ्ग खंडित नहीं किन्तु मंडित होता है। कारण हांजी, हांजी द्वारा मानी हुई बातमें कभी भूल होना, भ्रम पड़ना, श्रद्धान भ्रष्ट हो जाना भी संभव है। परंतु वादविवादपूर्वक समझे हुवे विषयमें फिर शंका ही नहीं रहती है। क्योंकि वह समझकर ग्रहण करता है। परंतु जो लोग समझते तो कुछ नहीं हैं, केवल कुतर्कों द्वारा समय नष्ट करना चाहते हैं उनके चाहे जो नियम बना लिया जाय। इसलिये सम्यग्दृष्टि पुरुष सदैव जिनागममें श्रद्धा रखकर अभ्यास करते हैं।

(२) **निःकांक्षित**—अर्थात् संसारके विषयभोगोंका विना शिक और दुःखोंसे भरे हुवे जानकर उनमें लवलीन नहीं होना।

(३) **निर्विचिकित्सा**—साधर्मीजनों व रत्नत्रयके धारी साधुजनोंके मलिन शरीरको देखकर घृणा न करके उनके गुणोंमें अनुराग करना।

(४) **अमूढ़दृष्टि**—देव अदेव, धर्म अधर्म, सुगुरु कुगुरु, इत्यादिका विचार करके उनमें भेद करना और देव धर्म गुरू तत्त्वादिका यथार्थ श्रद्धान करके शेषको मन, वचन, काय व कृतकारितअनुमोदनापूर्वक त्याग करना।

(५) **उपगूहन**—जिन कारणोंसे सत्य धर्मपर झूठ आक्षेप होते हों व धर्मकी हास्य या निंदा होती हो, उन कारणोंको रोके, दबावे, तथा प्रगटपने अपने गुणोंकी प्रशंसा और दूसरोंके छते व अनछते गुणोंकी निंदा नहीं करना।

(६) **स्थितिकरण**—सम्यग्दर्शन व सम्यक् चारित्रसे

डिगते हुवे जीवोंको उपदेशादि द्वारा अथवा अन्य किसी प्रकारसे स्थिर करना।

(७) वात्सल्य—साधर्मी भाईयोंके प्रति तथा जीव मात्रसे भी गाय और उसके बछड़ेके समान निष्कपट प्रेम रखना, और स्वशक्ति अनुसार उनकी सेवाशुश्रूषा, सहायता, व भक्ति आदि करना।

(८) प्रभावना—सर्वत्र सर्वोपरि सत्य (जैन) धर्मका प्रभाव प्रगट करना।

त्रिमूढं च मदाष्टौ च षडेवाऽऽयतनानि च।
शंकादयोऽष्ट सम्यक्त्वे दोषाः स्युः पंचविंशतिः॥३९॥
(धर्म स० श्रा० अ० ४)

अर्थ—तीन (देव, लोक, और गुरू) मूढता, अष्ट (ज्ञान, कुल, जात, बल, सम्पत्ति, तपश्चरण, रूप, ऐश्वर्य) मद, छह (कुदेव, कुगुरू, कुधर्म और कुदेव सेवक, कुगुरू सेवक और कुधर्म) अनायतन, और आठ (शंका, कांक्षा, ग्लानि, मूढदृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितीकरण, अवात्सल्य, और अप्रभावना) दोष इस प्रकार सब मिलकर पच्चीस हुवे इन्हें त्याग करना चाहिये। इनका कुछ संक्षिप्त वर्णन नीचे किया जाता है—

देवमूढता।

भय, आशा, स्नेह, वा लोभादिके वश हो करके रागीद्वेषी देवोंको तथा जिनदेवको भी पूजना, व उनकी मानता मानना सो देवमूढता है। कारण किसी भी प्रकारकी लौकिक सिद्धिकी इच्छा करके जो देव पूजादि करना सो यही मूढता है। क्योंकि कार्यकी सफलता असफलता

जो होगी वह अपने ही किये पुण्य और पापके फलसे होगी इसमें कोई देव देवी कुछ भी कर नहीं सक्ते हैं। और पुण्य दान व्रत शील संयम ध्यान ज्ञानादिसे होता है। सो इनमें न प्रवृति कर देवोंकी मानता मानना भूल है मूढ़ता है, अज्ञान है। यदि कहो कि तब तो जिनदेवकी भी उपासना नही करना ठहरा। सो ठीक है लौकिक अभिप्रायोंकी सिद्धिके अर्थ जिनदेवकी पूजा सेवा करना भी व्यर्थ है। जिनदेवकी पूजा तो इस अभिप्रायसे करना चाहिये कि यह जीव (मैं) जो कर्मवश संसारमें जन्ममरणका दुःख पारहा है विषयकषायोंकी तृष्णामें घोर दुःख पारहा है। उससे किसीप्रकार छूटे, सो हे जिनदेव! आपने इन विषय कषायोंको क्षीण कर कर्मो पर विजय पाई है और जन्ममरणसे रहित हुवे हो। हमको अपनी अविनाशी मोक्षपद देवो (आपका पद हम्हें भी मिले)। विचारनेका अवसर है, कि जो देव स्वयम् काम क्रोध, लोभ, मोह, माया, मान, खेद, चिंता, भय, विस्मय, ग्लानि आदिके वशमें हुवे दुःखित हो रहे हैं। वे दूसरोंका दुःख कैसे दूर कर सके हैं। दुःख तो दूसरोंका उसीके कारण दूर हो सक्ता है जिसने प्रथम अपना सब प्रकारका दुःख दूर करके सच्ची स्वाधीनता (मोक्षपद) प्राप्त की हो। और यह बात जिनदेवही में पाई जाती है। इस लिये निरीच्छा होकर जिनदेव ही की पूजा स्तवन गुण कीर्तन करना चाहिये, और शेष रागी द्वेषी आदि कुदेवोंकी पूजादि करना देवमूढ़ता है।

गुरुमूढ़ता।

आरंभ और परिग्रहके धारी, लोकमें अपनी प्रतिष्ठा पानेके इच्छुक, यंत्र मंत्र, तंत्रोंके द्वारा युवक युवतियोंको फंसाकर द्रव्य कमानेवाले, तथा योगकी ओटमें भोग भोगनेवाले, मठाधीश, अखाड़ेवाले महंत नाना प्रकारके कल्पित भेषधारी गुरुवों (साधुवों) की सेवा करना सो पाखंड (गुरु) मूढ़ता है। कारण जो अपना घर स्त्री पुत्र आदि त्याग कर भी त्यागी नहीं है, जो बनमें रहकर भी गृहस्थोंसे अधिक आरंभ परिग्रह रखते हैं, बात बातमें श्राप देनेके लिये दुर्वासा ऋषिकी होड़ करते हैं, लोगोंको ठगनेके लिये पुत्र पुत्र्यादि देनेके ठेकेदार बनते हैं, किसीकी हार, किसीकी जीत कराते हैं, जो स्त्री पुत्रोंके मर जानेके कारण वियोगी होकर साधु हुवे हैं, या स्त्री न मिलनेके कारण, या किसी रूपवान स्त्रीहीके लिये साधु हुवे,या धन लुट जाने या धन कमानेके लिये ही साधु हुवे हैं, या जो परिश्रम करके व्यापार, मजदूरी आदिके द्वारा द्रव्य नहीं कमाकर कायर हुवे अपने जीवन निर्वाह यही साधन बना भस्मी लगाकर, भगवे कपड़े पहिनकर, जटा बढ़ाकर या मूंड मुड़ाकर, भेषधारी बकुल ध्यानी साधु हो जाते हैं। सो भला जब ये बिचारे स्वयम् अपने आत्माके ठग, अपना ही कल्याण करनेमें असमर्थ, अक्षरज्ञान शून्य, अपने मठ या पदकी रक्षार्थ पंडितोंको नौकर रखकर उनके द्वारा पूजापाठ कराते और आप केवल मुंह चलाकर आशीर्वाद देने-वाले लोग दूसरोंका क्या भला कर सक्ते हैं? सिवाय इसके कितने अपने पूजकों और शिष्योंमें दण्डनीति धारणकर टेक्स (कर) वसूल

करते और खूब मजे उड़ाते हैं । अपने पांव पुजवाना ही इनका उपदेश है। इसलिये परम दिगम्बर मुद्राधारी बाह्य अभ्यंतर परिग्रहसे विरक्त सच्चे कल्याण करनेवाले जैन साधु ही होते हैं। उनके सिवाय शेष उपर कहे अनुसार जो आरंभ व परिग्रही गुरुओंको मानना सो गुरुमूढता है । त्याज्य है ।

लोक (धर्म) मूढ़ता ।

बिना समझे अर्थात् हिताहित, गुण अवगुण, आदिका विचार बिना किये, जो देखादेखी धर्म समझकर किसी कार्यमें प्रवृत्ति करना सो लोकमूढ़ता है। जैसे नदीमें नहानेसे, पहाड़परसे गिरनेसे, संडे मुस्तंडे भिखमंगोंको खिलानेसे, तीर्थोंमें जाकर जीमनवार करनेसे, मरनेके बाद श्राद्धादि पिण्डदान करनेसे, दूसरोंके पुत्र पुत्र्यादिका विवाह करा देनेसे, बालू रेत व पत्थरोंका ढेर करनेसे, सती होना, इत्यादि सब लोकमूढ़ता है । क्योंकि कहा है—

कोटि जन्म तप तपें ज्ञान बिन कर्म झरें जे ।
ज्ञानीके क्षणमें त्रिगुप्तिसे सहज टरें ते ॥

(छहढाला)

अर्थ—अज्ञानी करोड़ जन्मोंमें तप करके जितने कर्मोंकी निर्जरा करता है ज्ञानी उतने क्या उनसे भी अनंतगुणे कर्मोंकी निर्जरा मन, वचन, और कायकी क्रियाको रोककर क्षणभरमें कर देते हैं। इसलिये सम्यग्ज्ञान और श्रद्धासहित ही क्रिया फलदायक होती है धर्म कहाती है । शेष क्रियासे कुछ लाभ नहीं, व्यर्थका कायक्लेश, परिश्रम और द्रव्य व समयका व्यय करना है। मूढ़ता है।

इस प्रकार ये तीन मूढ़ता और ऊपर कहे आठ प्रकारके मद (अहंकार), छः अनायतन और निःशांकित आदि गुणोंसे उल्टे आठ दोष इत्यादि सब मिलकर सम्यग्दर्शनके पच्चीस मल दोष कहे जाते हैं इन्हें यथाशक्ति टालकर निर्मल सम्यग्दर्शनको धारण करना चाहिये।

निर्मल सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेसे प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्यता तथा मैत्री प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ इत्यादि चार चार भाव भी प्रकट होते हैं।

प्रशम—अर्थात् कषायोंकी मंदता, और विषयोंसे अरुचिका होना।

सम्वेग—धर्मानुराग सहित यथाशक्ति संयम धारण करना।

अनुकम्पा—प्राणी मात्र पर दयाभावका होना।

आस्तिक्य—धर्म और धर्मके फलमें श्रद्धा (दृढ़ विश्वास)-का होना अर्थात् कभी भी कठिनसे कठिन अवसर आनेपर (रोग, शोक, भय, विस्मय, खेद, दरिद्रता इत्यादि उपस्थित होनेपर) भी मनमें इसप्रकारकी शंका न होना, कि धर्म करनेसे तो धर्मात्माओंको कष्ट आते हैं। और पापी आनन्द मनाते हैं। या यह पंचमकाल है, इसमें धर्म नहीं फलता, पाप ही फलता है इत्यादि। यद्यपि यह देखनेमें आता है, कि वर्तमानमें बहुतसे सदाचारी पुरुषोंको कष्ट और पापियोंको दुःख भोगनेमें आता है परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि धर्मका फल दुःख और पापका फल सुख है। किन्तु यही दृढ़ विश्वास रखना चाहिये, कि सदैव धर्मसे सुख और

पापसे दुःख ही मिलता है। यह जो वर्तमान उल्टा फल दृष्टिगत होता है, उसका कारण उन धर्मात्मा व पापात्मा जीवोंके पूर्वोपार्जित पाप या पुण्य (धर्म) का फल है, न कि वर्तमानका इसलिए उन लोगोंको (प्राणियोंको) उनके शुभ अशुभ भावों व कर्मोंका शुभाशुभ फल अवश्य मिलेगा, ऐसा समझ कर धर्ममें श्रद्धा रखकर धर्माचरण पालते हुवे भी उसके फलकी ओर दृष्टि न देना अर्थात् फलकी इच्छा न करना चाहिये क्योंकि फल तो अपने अपने कर्मानुसार सभी जीवोंको मिलता ही है, तब क्यों निष्प्रयोजन निदान बंध करना इत्यादि सो आस्तिक्य भाव हैं।

मैत्री—जीव मात्रसे मित्रभाव (प्रेम) रखना, अर्थात् उन्हें सुखी देख कर हर्ष मानना और दुःखी देखकर यथाशक्ति उनके दुःखमोचनका उपाय करना।

प्रमोद—अपनेसे गुणाधिक्य पुरुषोंमें ज्ञान व चारित्र आदिकी वृद्धि देखकर प्रसन्न होना, न कि दाह करना।

कारुण्य और अनुकम्पा, दया, इत्यादि एकार्थवाची हैं।

माध्यस्थ—अर्थात् जो प्राणी विपरीत मार्गगामी हैं, और उनको सन्मार्गमें नहीं लगा सके हैं, या जो जीव उपदेशादि धर्मामृतको अपने पूर्वोपार्जित मोहादि अशुभ कर्मोदयसे विष सदृश आस्वादन करते, तथा उल्टे धर्म व धर्मात्माओं पर कलंक लगाकर उन्हें कष्ट पहुंचाते हैं। तो ऐसे जीवोंसे कषायभाव न करके माध्यस्थ भाव धारण करना चाहिये अर्थात् न तो उनकी अनुमोदना ही करना, और न

विरोधी ही बनकर उन्हें कष्ट पहुंचाना। यदि हो सके तो सुधारनेका प्रयत्न करना, अन्यथा मौन धारण करना, यही माध्यस्थ भावना है।

इसके सिवाय और भी अनेक गुण सम्यग्दृष्टि जीवमें प्रगट होते हैं, जैसे समता (हानि व लाभ, सुख किंवा दुख, जीवन मरण, इष्ट वियोग व अनिष्ट संयोग, भय, आपत्ति, इत्यादि अवस्थाओंसे अपने धैर्यको न त्यागना, उनमें रागी द्वेषी न होना, कायरता न करना, बलपूर्वक साहना करना, समभाव रखना इत्यादि), क्षमा (अपनेसे निर्बल प्रणियोंके द्वारा अपने ऊपर किये हुवे उपसर्गोंको सहन करना अर्थात् निर्बल प्राणियोंपर क्रोध न करना), परोपकारिता, धैर्य, पुरुषार्थ इत्यादि। अब यहीं प्रश्न यह होता है कि सम्यग्दर्शनको प्रधानपद क्यों दिया जाता है? तो उत्तर यह है कि स्वपरकल्याणाभिलाषी (मुमुक्षु) प्राणी कल्याण (मोक्ष) के सत्य मार्गकी (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्रकी) खोज व परीक्षा करके उसपर अपना दृढ़ विश्वास जमा लेता है। और फिर यदि वह प्राणी किसी कारण उस मार्गसे च्युत होकर विपर्यय मार्ग पर भी चलता है (चारित्रभ्रष्ट होजाता है) और अपना जैसाका वैसा ही स्थिर रखता है, तो संभव है, कि कभी वह फिर सम्यक् मार्ग गृहण कर सकेगा, क्योंकि वह चारित्रभ्रष्ट होते हुवे भी अपने विश्वाससे भ्रष्ट नहीं हुवा है इसलिये उसे कल्याणमार्गसे भ्रष्ट नहीं करसक्ते हैं। जैसे स्वामी समंतभद्राचार्य, स्वामी माघनंद मुन्यादि, चारित्र भ्रष्ट होकर भी दर्शनभ्रष्ट न होने के कारण पुनः मोक्षमार्गमें स्थित होगये थे। परंतु जो पुरुष

चारित्रपर कदाचित दृढ़ हो (भले प्रकार पालता हो) परंतु दर्शन (श्रद्धा) से च्युत होगया है, तो उसका चारित्र अवश्य छूट जायगा, वह भ्रममें पड़कर भृष्ट हो जायगा और श्रद्धा न होनेके कारण फिर मोक्षमें नहीं लग सकेगा, वह अनंत संसारमें भटकता फिरेगा। कुन्दकुन्दस्वामीने कहा भी है—

दंशन भदा भदा दंशन भदाय नत्थि निव्वाणं ।
निव्वाह चरण रहिया दर्शन भदा न सिज्झति ॥

(दर्शनपाहुड)

अर्थ—सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट जीव ही भ्रष्ट कहा जाता है, सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट जीवको निर्वाणपद नहीं प्राप्त होता है। चारित्र रहित को तो कभी हो सक्ता है, पर दर्शन भ्रष्ट तो कभी भी सिद्धि नहीं प्राप्त करसक्ता है। इस प्रकार संक्षिप्तसे दर्शनविशुद्धि भावनाका स्वरूप कहा, अब शेष भावनाओंका स्वरूप कहते हैं। यद्यपि यह द० वि० भावना इतनी विस्तृत है, कि इसके अंतर्गत और सब भावनायें आजाती हैं। तथापि भिन्न भिन्न करके समझाते हैं परंतु यह स्मरण रहे कि इस भावनाके विना अन्य भावनाएं कुछ भी कामकी नहीं हैं। वे सब इसीके साथ साथ फलवती होती हैं। इसलिये इसे न भुलाकर ही उन्हें चिंतवन करना चाहिए। अब विनयभावनाके स्वरूपको कहते हैं—

[२] विनयसम्पन्नता ।

विनय—अर्थात् नम्रतापूर्वक निष्कपट भावसे आदरसत्कार करना। विनय पांच प्रकारकी होती है— दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचारविनय ।

दर्शनविनय—सम्यग्दर्शन निर्दोष धारण करना, तथा सम्यग्दृष्टी जीवोंका यथासंभव आदरसत्कार करना ।

ज्ञानविनय—सम्यग्ज्ञानको धारण करना तथा सम्यग्ज्ञानी पुरुषोंका तथा सम्यग्ज्ञानका विनय (यथासंभव आदरसत्कार) करना और उन ग्रन्थोंका जिनमें सम्यग्ज्ञानका कथन किया गया है, यथायोग्य पूजनादि करना । परन्तु केवल ग्रन्थोंकी पूजन व उन्हें अच्छे अच्छे वेष्टनोंमें लपेट कर रख देना तथा नमस्कार इत्यादिको ही ज्ञानविनय न समझ लेना चाहिये। यथार्थमें ज्ञानविनय वही है, जो सम्यग्ज्ञानको धारण करना, पढ़ाना, पढ़ाना, उपदेश सुन कर सरलता व नम्रतापूर्वक धारण करना, उपदेश देना, सम्यग्ज्ञानका प्रचार करना, ग्रन्थोंका प्रकाश व प्रचार करना इत्यादि ।

चारित्रविनय—सम्यक्चारित्र यथाशक्ति रुचिपूर्वक कल्याणकारी जान कर धारण करना, तथा सम्यक्चारित्रके धारी पुरुषोंमें पूज्य भाव रखना । उनकी विनय सुश्रूषा सत्कारादि करना ।

तपविनय—यथाशक्ति इन्द्रियोंको वश करके मनको वश करना और सम्यक् तपधारी साधु तपस्वियोंमें पूज्यभाव रखना । उनकी विनय सुश्रूषा सत्कारादि करना ।

उपचारविनय—अपने गुणाधिक्य पुरुषोंमें भक्तिभाव रखना, उनके आगे आगे नहीं चलना, नहीं बोलना, आदर सहित उच्चासन देना, नम्रतापूर्वक मिष्ट वचन बोलना, उनकी आज्ञा मानना इत्यादि। प्राणियोंमें यह गुण होना परमावश्यक है। विनयी पुरुषका कोई भी शत्रु संसारमें नहीं रहता है, विनयी सबका प्रीतिभाजन होता है, विनयीको गुरु आदि शिक्षकगण प्रेमसे विद्या पढ़ाते हैं, विनयीको भी कष्ट आनेकी शंका नहीं रहती, लोग उसकी सदैव सहायता करनेमें तत्पर रहते हैं, परंतु अभिमानीके तो निष्कारण प्रायः सभी शत्रु बन जाते हैं। इसलिये विनयगुण सदैव धारण करना चाहिये। अब शीलव्रतेषु अनतिचार नाम तीसरी भावना कहते हैं—

(३) शीलव्रतेषु अनतिचार।

शीलव्रतेषु अनतिचार—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह अथवा परिग्रहप्रमाण, ये पांच व्रत और इनको निर्दोष पालनार्थ क्रोधादि कषायोंके रोकनेको **शीलव्रत** कहते हैं, और इन शीलव्रतोंके पालन करनेमें मनवचनकायकी निर्दोष प्रवृत्ति सो **शीलव्रतेषु अनतिचार** भावना कही जाती है।

यथार्थमें **शील** आत्माके स्वभावको कहते हैं इसलिए आत्माके स्वभावसे भिन्न जो परभाव तिन सबको रोककर स्वभावरूप प्रवृत्तिका

होना यही शील है। परन्तु व्यवहारमें मैथुन (कामसेवन) आदि क्रियावोंसे विरक्त होनेको भी शील कहते हैं।

यह शील दो प्रकारका होता है, एक गृहस्थका, दूसरा साधुका। गृहस्थका शील स्वदार संतोषरूप होता है। साधुका मन वचन और कायसे स्त्रीमात्रके संसर्गका त्यागरूप होता है। शीलको ब्रह्मचर्य्य भी कहते हैं।

ब्रह्मचर्य्य ही ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकारके सुखोंका साधन है। हमारे देशमें प्राचीन कालसे यह पद्धति चली आरही है, कि बालक बालिकायें जितने कालतक विद्याअध्ययन करें, वहांतक वे अखंड ब्रह्मचर्य्यका पालन करें। इस ब्रह्मचर्य्य व्रतके चिन्हरूप यज्ञोपवीत (जिसे ब्रह्मसूत्र भी कहते हैं.) द्विजातिके पुत्रोंको आठ वर्षकी अवस्था होनेपर पहिना दिया जाता है। और ब्रह्मचर्य्यके निर्दोष पालनार्थ, इसके विरोधि कामोत्तेजक कारणोंको, जैसे अंजन-मंजन लगाना, वालोंका सम्हालना, इत्र फूलेल आदिका लेपन करना, सुन्दर सुन्दर वस्त्राभूषण पहिरना, विलासी नरनारियोंकी संगतिमें रहना, कामकथावोंका कहना सुनना, पुष्ट मिष्ट स्वादिष्ट भोजन करना, इत्यादि रोक दिया जाता है। उन्हें विद्याध्ययन कालपर्यंत गुरूके घर ही रहना पड़ता है जिसे गुरुकुलकी प्रथा कहते हैं। यह प्रथा यद्यपि कालके फेरसे अन्यरूप बदल गई है। तो भी किसी अंशमें अभी काशी नदिया आदि स्थानोंमें बराबर प्रचलित है। जहांतक इस प्रथाका प्रचार यथार्थ रीतिसे रहा वहांतक ही इस देशमें **अकलंक निकलंक** जैसे धुरंधर विद्वान होते रहे, और धर्म-

का डंका बजाते रहे हैं। परंतु जबसे विद्यार्थियोंने इस प्रथाको छोड़ा और उनके मातापिताने अज्ञानवशवर्ती होकर उनका पाणिग्रहण अल्प वयमें करना आरंभ कर दिया, तभीसे उनके विद्योपार्जनके मार्गमें बड़ा भारी रोड़ा (पत्थर) अटक गया, आड़ा गया, आजकलके विद्यार्थी थोड़ीसी महिनतसे घबरा जाते हैं। उन्हें फूलताजा और कामनिया आईल, बर्फ, दूध, बदाम, मिश्री, अर्क, गुलाबकेवड़ा, खशकी टट्टी और पंखेका खिचाव, मोजा, गुलूबन्ध, स्वेटर, छाता और जूता इत्यादि सामान तो आवश्यक हो गया है। इसके विना तो वे पढ़ ही नहीं सक्ते हैं। जब प्राचीन कालके ब्रह्मचारी विद्यार्थी धूप ठंड आदिकी कुछ पर्वाह न कर सिंह शावक (बच्चा) के समान विचरते थे। जिस कार्यको हाथमें लेते, उसे पुरा करके ही छोड़ते थे। इसका कारण उनका ब्रह्मचर्य्य ही था। आज जो आवश्यकतायें होने लगी हैं, यह सब निर्बलताका कारण है। उनके अल्प वयमें वीर्यका क्षय होना ही कारण है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि ज्ञानोपार्जनके लिये ब्रह्मचर्य्य व्रतकी बहुत बड़ी आवश्यकता है। और ज्ञानसे सब प्रकारका सुख होता है (जो आगेकी भावनामें कहेंगे)।

दूसरी बात यह है कि सदासे यह नियम चला आ रहा है कि " वीर भोग्या वसुन्धरा " अर्थात् " जिसकी लाठी उसकी भैंस " तात्पर्य जो बलवान होता है, वही पृथ्वी पर राज्य करता है। निर्बल सदा दबाये जाते हैं। एक ही सिंह अपने बलसे समस्त जंगलके जानवरों पर राज्य करता और निर्भय रहता है। उसका

कारण क्या ब्रह्मचर्य्य ही है। वह अपने जीवनमें एकबार ही काम-सेवन करता है और एक ही बारमें अपने ही समान (बलिष्ठ) पुत्र उत्पन्न करता है। जब कि ब्रह्मचर्य्यके नष्ट होनेसे हमारे बहुतसे भाई अपने जीवनमें सन्तानका मुंह देखनेको तरसते तरसते मर जाते हैं। और यदि संतान भी प्राप्त कर लें, तो अधिक समयतक उसे साथ न रख सकें (संतानका वियोग अल्प ही वयमें हो जाय)–यदि संतान जीवित भी रही तो निरंतर वैद्योंकी हाजिरी देना पड़े इत्यादि। जब कि संतानको निरंतर रोग और ओषधिसेवनसे ही फुर्सत (अवकाश) नहीं मिल्ती तो वे संसारका क्या सुखानुभव कर सक्ते हैं। वे तो सदैव विषयके स्वादकी इच्छासे तरसते तरसते यमराजके पाहुने बन जाते हैं। न वे अपना भला कर सक्ते न दूसरोंका ही, केवल आयुके दिन गिन्ते रहते हैं, उन्हें अपना ही जीवन भाररूप हो जाता है। इतने पर भी बहुतसे अज्ञानी मदोन्मत्त हाथीके समान अपनी पत्नी व पतिके सिवाय अन्य स्त्री पुरुषोंके साथ अपने वीर्यको नष्ट करते हैं। सो उन्हें शारीरिक हानि तो होती है, परन्तु और भी अनेकानेक आपत्तियोंका साम्हना करना पड़ता है। लोक निन्दा, पंच दण्ड, राज्य दण्ड भोगना पड़ता है। आतशक, भगन्दर, प्रमेहादि रोगोंसे शरीर जर्जरित हो जाता है। कभी कभी तो इनसे ही लोगोंको इस महा अपराधके कारण जीवनसे भी हाथ धो डालना पड़ता है। कामी पुरुष स्त्री माता बहिन बेटी पिता भाई बहन आदिका भी ध्यान नहीं रखते हैं। ज्यों ज्यों शरीर जर्जरा, निर्बल और तेजहीन

धातुक्षीण होता जाता है, कामेच्छा उतनी ही अधिक बढ़ती जाती है। उन्हें कभी तृप्ति ही नहीं होती, कदाचित वे स्वयम् कामसेवन न भी कर सकें, तो दूसरोंको सेवन कराकर प्रसन्न होते हैं। कामी पुरुष सदा आर्तरूप रहते हैं। उनकी दृष्टि सदा विषैले सापोंके समान निजपरको दुखदाई होती है। कामी पुरुष यदि स्वस्त्रीमें संतोष न करके वेश्या तथा परस्त्रीसेवन करता है तो उसकी स्त्री भी प्रायः अपने पतिको कुमार्गमें आरूढ़ देखकर कामके वशीभूत हो अन्य पुरुषको अपना शीलरूपी भूषण लुटा देती है। हाय! यह काम कैसा भयंकर पिशाच है कि इसका ग्रस्या हुवा फिर नहीं निकल सक्ता। जितने अनर्थ, अन्याय और दुःख हैं वे सब कामके वश हो कर किये जाते हैं। इस कामरूपी पिशाचसे बचनेके लिये हमें उन महापुरुषोंका जीवनचरित्र सदा स्मरण रखना चाहिये कि जिन्होंने इसे जड़मूलसे उखाड़ कर फेंक दिया है। जैसे भीष्मपितामह (जिन्हें गुरु गंगेय भी कहते हैं)ने यावज्जीव स्त्री मात्रका त्याग कर अखंड ब्रह्मचर्य्य पालन कर इस भूमिकी शोभा बढ़ाई थी, भगवान **नेमिनाथ** राजुलसी चन्द्रमुखी मृगनयनी स्त्रीको त्याग करके भगवान गिरनार पर ध्यानस्थ हुवे, भगवान **महावीर**ने बाल्यावस्थामें ही इसे जीत कर कल्याणमार्ग संसारको दिखाया था, **पार्श्वनाथ**ने भी इसे बाल्यावस्थामें ही निर्बल करके मोक्षमार्ग ग्रहण किया था, इसके सिवाय और भी महाबली जितने पृथ्वी पर हुवे हैं वह सब इसी ब्रह्मचर्य्यका ही प्रताप था।

ब्रह्मचर्य्यके बिना जैसे ज्ञानप्राप्ति नहीं होती, ऐहिक सुख

नहीं मिलता, उसी प्रकार व्रत, संयम, नियम, धर्म, दान, पूजा, स्वाध्याय, ध्यान इत्यादि कुछ नहीं हो सक्ता है। क्योंकि ब्रह्मचर्य विना निर्बलता होती है, निर्बलतासे अनुत्साहता बढ़ती है, अरुचि होती जाती है, अस्थिरता बनी रहती है, कायरता घेरे रहती है। चित्त कभी एकाग्र नहीं होता है। भगवान उमास्वामीने कहा भी है—

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानम् अंतर्मूहूर्तात्॥

(तत्त्वार्थसूत्र अ० ९ सू० २७)

अर्थ—उत्तम अर्थात् वज्रवृषभनाराच संहननवाले पुरुषोंके भी एकाग्रचिंताको रोकनेरूप ध्यान अंतर्मुहूर्त (४८ मिनट तक) ही स्थिर रहता है।

सो भला जब ऐसे महाबली ही अपने ध्यानको ४८ मिनट तक ही स्थिर रख सक्के है। तो वे ब्रह्मचर्य्य नष्ट पुरुष किसप्रकार ध्यान रख सक्के हैं? और जब ध्यान संयम तप ही नहीं कर सक्के तो मोक्ष कहां? क्या इन निर्बलोंकी यह सामर्थ्य हो सक्ती है किये आये हुवे उपसर्ग व परिषहोंको सहन कर सकें? नहीं, कभी नहीं। वे ब्रह्मचर्य्य पालनेवाले पांडव ही थे, जो दुष्ट कौरवोंके सम्बन्ध द्वारा लोहनिर्मित अग्निमयी आभूषण पहिरा देनेपर ध्यानसे नहीं डिगे। वे ब्रह्मचारी पार्श्वनाथ ही थे, जो आठ दिन तक बराबर कमठके जीवद्वारा होते हुवे वर्षा आदिका घोर उपसर्ग सहते रहे। वे ब्रह्मचर्य्यकी महिमा जाननेवाला सुकुमाल ही थे, कि जिनके शरीरको तीन दिन तक स्यालनीने अपने बच्चों सहित भक्षण किया पर वे ध्यानसे न हिले। वे महाराज बाहुबली थे जो एकासन खड़े

हुवे तप करते रहे, जिनके शरीरपर बेलें चढ़ गईं, सांप लपट गये, चिउंटियोंने घर बनालिये तो निश्चल खड़े रहे। वे भगवान ऋषभनाथ ही थे, जो प्रथम ही छ: मासके उपवास धारणकर ध्यानमें लीन हो गये और फिर छ: महिने तक भोजनांतराय होते रहनेपर व्रतमें आरूढ़ रहे जब कि अन्य साथमें दिक्षा लेनेवाले साधुवोंने क्षुधातृषासे पीड़ित होकर तप भंग कर दिया और ३६३ पाषंड मत चलाये इत्यादि अनेकों दृष्टान्त ग्रन्थों और इतिहासोंमें भरे पड़े हैं जो ब्रह्मचर्य्यकी महिमा गा रहे हैं। इसलिये ब्रह्मचर्य्य व्रतको उभय लोक हितकारी जान कर पालन करना चाहिये।

भंड वचन बोलना, रसकथा करना, सीटनें (खराब गालियां) बकना, खोटे गीत गाना, स्त्री पुरुषोंके रूपका अवलोकन करना, उनसे एकान्तमें वार्तालाप करना, भूत या भावी विषयभोगोंका विचार करना, दूसरोंका विवाहसम्बन्ध मिलाना, स्वपति व पत्नीमें भी अत्याशक्त रहना, कामाङ्गोंको छोड़ कर अन्य अंगोंद्वारा कामचेष्टा करना, नरनारीके सिवाय तिर्यंच, तिर्यंचनीके साथ या पुरुषपुरुष या स्त्री स्त्रीके साथ, कामक्रीड़ा करना, अथवा अपने ही हस्तादि अंगोंद्वारा वीर्यपात करना, सो सब ही **व्यभिचारसेवन** करना है, ब्रह्मचर्य्य व्रतको दूषित करना है, तथा अपने आपको अपने अनुयायियों सहित घोर दु:खसागर नर्कमें ढकेलना है। इसलिये निर्दोष ब्रह्मचर्य्य पालना चाहिये। ब्रह्मचर्य्य विना समस्त जप, संयम, ध्यान ढोंग मात्र है, व्यर्थ है। निर्दोष ब्रह्मचर्य्यको पालनेसे ही समस्त व्रत निर्दोष पलते हैं। इसप्रकार शीलव्रतेषु अनतिचार भावनाका वर्णन किया, अब अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावनाको कहते हैं—

(४) अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग।

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग—अर्थात् निरंतर तत्त्वोंका अभ्यास करना। जाननेका नाम ज्ञान है, और जाननेमें चित्तको लगाना सो उपयोग है, इसलिये निरंतर जो जाननेयोग्य पदार्थोंको जानते रहना सो अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है।

ज्ञानमें उपयोग रखनेसे दिनोंदिन अभ्यास और अनुभव बढ़ता जाता है। अनुभवी पुरुष कभी धोखा नहीं खाता है, उससे भूल होना संभव नहीं है, और भूल न होनेसे दुःख नहीं होता है। इसलिये ज्ञानीको दुःख नहीं होता। दूसरी बात यह है कि ज्ञानमें सदा उपयोग रहनेसे मन अन्यत्र नहीं डोलता है, विषयोंकी ओर नहीं जाने पाता है, तब विषयोंके चाह रूप दाह भी उत्पन्न नहीं होने पाती है। यत्र तत्र उपयोग न जानेसे अपने शरीरमें होती हुई वेदना भी नहीं मालूम होती है, और इसप्रकार भी ज्ञानी सदा सुखी रहता है। ज्यों ज्यों ज्ञान बढ़ता है, अनुभव बढ़ता है, त्यों त्यों आत्माकी शक्ति प्रस्फुरित होती जाती है, आत्मामें एक अपूर्व ही आनन्दका विकाश होने लगता है, संसारके क्षणिक विषयस्वादरूप सुख तुच्छ भासने लगते है, क्रोधादि कषायें धीरे धीरे छोड़ कर भागने लग जाती हैं, सहनशीलता, धैर्य, बढ़ता जाता है, घबराहट नहीं रहती है, यथार्थमें ज्ञानीके सुखका अनुभव ज्ञानी ही कर सक्ता है। अज्ञानी बिचारा क्या जाने? उस दशा तो ऐसी है जैसे—

भैंसके आगे वीना बाजे, भैंस रही रोथांय।
बैलहिं दीनों षटरस भोजन, सो क्या स्वाद लखाय॥

किसी कविने ठीक कहा है—

पूछे कैसा ब्रह्म है, केती मिश्री मिष्ट।
स्वादे सो जाने सही, उपमा मिले न इष्ट॥

यथार्थमें जैसे प्रसूताकी पीड़ाका अनुभव बंध्या कर सक्ती है उसी प्रकार अज्ञानी सच्चे ज्ञानानन्दका अनुभव नहीं करसक्ते हैं। तो भी व्यवहारमें **ज्ञानी पुरुष ही सुखी देखे जाते हैं**, क्योंकि अज्ञानी तमाम दिन कठिन परिश्रम करने पर भी उदरभर भोजन प्राप्त नहीं कर सक्ता, जब कि ज्ञानी पुरुष थोड़े परिश्रमसे मनवांछित द्रव्य भोग सामग्रियां प्राप्त कर लेते हैं। देखो, राज्यकीय बड़े बड़े न्यायाधीशों आदिके पदोंपर विद्वान पुरुष ही शोभा पा रहे हैं। सेठों साहुकारोंके यहां उनकी सम्पूर्ण सम्पत्तिके अधिकारी एक प्रकार विद्वान (उनके मुनीम गुमास्ते) ही हो रहे हैं। जहांतहां जितने बड़े बड़े पदाधिकारी मिलेंगे वे सब विद्वान ही होंगे।

चाहे वह (ज्ञानी) अंधा हो, लूला लंगड़ा हो, काना हो, गूंगा हो, कुरूप हो, हीनांग व अधिक अंगवाला हो, परंतु उसके पास जो गुप्त रत्न (ज्ञान) है उसीके कारण उनका संसारमें आदर होता है।

और धन तो दायादार बंटा सक्ते हैं राजा लुटा सक्ते हैं चोर चुरा सक्ते हैं, अग्नि भस्म कर सक्ती है परंतु वह एक ज्ञान-

धन ही ऐसा है, जो इन सब भयोंसे निर्भय है। वह इस भव नाश होना तो दूर रहा, परन्तु परभव तक साथ जाता है।

एक विचित्रता इसमें यह है कि यह देनेसे बढ़ता है और न देनेसे घटनेकी संभावना रहती है।

राजाका मान उसके जीते जी उसीके राज्यक्षेत्रमें होता है। परंतु ज्ञानीका सन्मान सर्वत्र और सर्वदा होता रहता है।

आज न तो चौवीसों (ऋषभनाथसे लेकर महावीरस्वामी तक) तीर्थंकर विद्यमान हैं, न बाहुबलि भरत आदि केवली, न कुंदकुंदाचार्य, न समंतभद्राचार्य, न अकलंकाचार्य, न जिनसेनाचार्य, न अमरचंद कवि, न द्यानतदास कवि, न दौलतराम कवि, न बनारसीदास, न भैया भगवतीदास, न वृंदावन, न भागचंद, न टोडरमलजी, न पंडित आशाधर, न सदासुखदास, न जयचंदजी, इत्यादि परन्तु अहा! आज भी उनकी वाणी और उनके कृत्योंके कारण वे अमर हो रहे हैं। उनके ज्ञान ही यह महिमा है कि हमलोग उनकी वाणी, उनके अनुभव और उनके हितोपदेशोंसे आनन्दलाभ कर रहे हैं। हम आज उनके इस वसुंधरा पर विद्यमान न होने हुवे परोक्ष रीतिसे उनका सत्कार करते हैं, पूजा करते हैं, उनके स्मारकरूप तदाकार प्रतिबिम्ब (मूर्ति) बनाकर रखते हैं, उस मूर्तिके सन्मुख उनका गुणस्तवन करते हैं। क्या कोई भी जैनी किसी मूर्तिकी पूजा करता है? क्या जैनी मूर्तिपूजक हैं? नहीं कभी नहीं। वे किसी मूर्तिकी पूजा कभी नहीं करते हैं किन्तु मूर्तिको उन परमात्मा तीर्थंकर देवोंका स्मारक समझकर ही उस मूर्तिके सन्मुख गुणकीर्तन, स्तवनपूजन करते

है। जैनी मूर्तिको परमात्मा नहीं मानते हैं, किन्तु उसे केवल मात्र स्मारक ही समझते हैं, अर्थात् यह मूर्ति उन महात्मावोंके चरित्र-तक स्मरण करानेवाली निमित्त कारण है। चाहे पत्थर धातु काष्ठा-दिकी बनायी जाय और चाहे चित्रपट में बनायी जाय, परंतु उस मूर्ति व पट में जिसकी कल्पना है, उसका स्मरण मूर्ति व पट देखते ही अवश्य हो जाता हैं। स्मरण होते ही अनुकरण करनेकी इच्छा होती है, और अनुकरण करनेसे तत्सदृश हो सक्ते हैं। इसी अभिप्रायसे मूर्तिकी स्थापना की जाती है।

तात्पर्य—ज्ञानका ऐसा महात्म्य है कि ज्ञानियोंको स्मरण रखनेके लिये उनकी मूर्तितक बनाकर पूजी जाती हैं। और तो क्या, जिस स्थानमें वे ज्ञानी कभी एकवार भी पधारे होवें, वह स्थान भी पूजने लगता है। अहा! ज्ञान कैसा उत्तम पदार्थ है, कि जिसके स्मरण मात्रसे आनन्द आजाता है। इसलिये यदि लौकिक या पारलौकिक अथवा दोनों प्रकारके सुखोंकी इच्छा है, तो निरंतर सम्यग्ज्ञानका अभ्यास करना चाहिये। इसप्रकार अभीक्ष्ण ज्ञानो-पयोग भावनाका वर्णन किया। अब संवेग भावनाका स्वरूप कहते हैं—

[५] संवेगभावना।

संवेग—अर्थात् संसारके विषयोंसे भयभीत होना और धर्म, धर्मात्मा तथा धर्मके फलमें अनुराग करना सो ही संवेग भावना हैं।

संसारके विषयभोग सब इंद्रियोंके आधीन हैं, और इन्द्रियां शरीरके आश्रित है, शरीर रोग जरा और मृत्युकर सहित है, अतएव इंद्रीय विषयभोग भी विनाशवान हैं। विनाशिक वस्तुमें प्रीति करनेसे वियोगके समय अवश्य ही दुःख होता है। यदि यह मान लिया जाय कि जबतक शरीरका साथ है, तबतक ही इसमें प्रीति करना चाहिए तो उत्तर यह है कि इसका यह भी भरोसा नहीं कि अमुक समयतक स्थिर रहेगा, न जाने श्वास जो बाहर निकलता है, वह फिर पीछे आता है या नहीं। फिर इस शरीरका साथ पाकर अच्छे अच्छे सुगन्धित पदार्थ भी दुर्गंधित हो जाते हैं, इसको सम्हालते सम्हालते भी यह दिनोंदिन क्षीण होता चला जाता है, आत्मोपकारी सुअवसरपर धोखा दे जाता है, व्रत संयम तपादिक परीषह सहन करनेमें कायरता धारण कराता है, जो लोग निरंतर शरीरका ही दासत्व करते रहते हैं, उनका भी शरीर रोगोंसे परिपूर्ण होता हुवा देखा जाता हैं। हाय! जिस शरीरकी इतनी सेवा की जाती है, वह आयु के अंत होते ही यहीं पड़ा रहजाता है, पलभरके लिये पदभर भी साथ नहीं जाता, कैसा कृतघ्न है? सो जब शरीरकी ही यह दशा है, तब शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले पुत्र कलत्र मित्र आदिकी कहना ही क्या है? वे तो निरे स्वार्थी ही हैं, जबतक उनके योग्य उनको विषयसामग्री देते रहोगे, उनसे मिष्ट भाषण करते रहोगे, उनके द्वारा होने अनर्थों व अन्यायों पर दृष्टिपात न करोगे, उनकी इच्छानुसार प्रवर्तन करने देवेंगे, वहांतक वे भी तुम्हारी स्तुति करेंगे, तुम्हें पिता, दादा, भाई, मित्र, स्वामी, बेटा आदि

अनेक नाते लगाकर सम्बोधन करते रहेंगे, तुम्हारे दुःखदर्दमें यहांतक प्रीति दिखायगे, कि यदि तुम्हारे लिये उनका शरीर भी लग जाय तो लगानेको तैयार हैं। परंतु यह सब दिखावा मात्र है, अवसर आनेपर सब दूर भाग जांयगे और एक दूसरेका मुंह देखने लगेंगे, कोई भी साथ देनेवाला दृष्टिगोचर न होगा। जैसे मिठास देख कर मक्खियां भन भन करके घेर लेती हैं, उसी प्रकार ये लोग भी पचेन्द्री मनुष्याकारकी बड़ी बड़ी मक्खियां हैं। अर्थ (द्रव्य) काम (विषय) के लोलुपी जहांतक स्वार्थ देखते हैं, लिपटे रहते हैं। परंतु ज्यों ही द्रव्यरूपी रक्त मांस सूखा, त्योंही मुर्देके समान छोड़ देते हैं। इसलिये ऐसे स्वार्थीजनोंसे प्रेम कर उनके लिए अपने आत्माका बिगाड़ करना उचित नहीं है। इस प्रकार संसार देह भोगोंके स्वरूपका विचार कर उनसे सदा भयभीत रहना, उनमें मग्न न होना, यथाशक्ति उनसे दूर रह कर धर्मका सेवन करना, यही संवेग भावना है।

धर्म वस्तुके स्वभावको कहते हैं, उत्तमक्षमादि दश प्रकार[१] भी धर्म कहा है। रत्नत्रयको भी धर्म कहते हैं और अहिंसा पालन करना भी धर्म है। यद्यपि यहां चार प्रकार धर्म कहा है परंतु यथार्थ इन चारोंमें कुछ भी अन्तर नहीं—भिन्नता नहीं है, सब एक ही हैं। इसलिये इनका सेवन करना, धर्म और धर्मात्माओंमें प्रीति रखना। धर्ममें प्रीति उसीकी हो सक्ती है जो विषयों व कषायोंमें आसक्त न हो। विषयी पुरुष धर्मात्मा संवेगी वैरागी पुरुषोंकी हंसी

१ देखो दशलक्षणधर्म पुस्तक।

उड़ाते हैं, उनको धर्मसेवन करनेमें विघ्न करते हैं, उपसर्ग करते हैं, जिसतिसप्रकार धर्मसे च्युत करनेका प्रयत्न करते हैं। परंतु जो निरंतर संवेगभावनाका चिंतवन करते हैं, वे विघ्नोंको, उपसर्गोंको, सहन करते हैं। उपहाससे भयभीत नहीं होते हैं, ज्यों ज्यों लोग उन्हें धर्मसे च्युत करना चाहते हैं, त्यों त्यों वे और भी धर्ममें दृढ़ होते जाते हैं।

फल इसका यह होता है, कि निंदक लोग पापकर्म बांधकर दुर्गतिको चले जाते हैं। और संवेगी धर्मात्मा पुरुष धर्मध्यानके योगसे स्वर्गादिक सुखोंका अनुभव कर फिर मनुष्य हो अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करते हैं। इसलिये इस भावनाका चिंतवन निरंतर करना योग्य है। इसप्रकार संवेगभावनाका स्वरूप कहकर अब शक्तिस्त्याग भावनाका स्वरूप कहते हैं।

[६] शक्तिस्त्याग भावना।

शक्तिस्त्याग—अर्थात् शक्ति अनुसार त्याग (दान) करना।

दान चार प्रकारका होता है, आहारदान, औषधिदान, शास्त्रदान और अभयदान, ये चारों दान निश्चय और व्यवहाररूपसे दो प्रकार है।

निश्चय आहारदान—अपने व परके आत्मामें उस अव्याबाध गुणका (वेदनी कर्मको नाश कर) प्रगट कर देना, कि जिससे क्षुधा

ही न लगे। आहार तो क्षुधाके उपशमार्थ किया जाता है। इसलिये जब क्षुधा ही न लगेगी तो रोटी, पूरी, लाडू आदि नैवेद्यके भक्षण की आवश्यकता ही न रहेगी, यही निश्चय आहारदान है।

व्यवहार आहारदान—अपनी व परकी क्षुधाके उपशमार्थ शुद्ध प्रासुक खाद्य सामग्रियोंका भक्षण करना व कराना।

निश्चय औषधिदान—अपने व परके आत्माको जन्म जरा और मृत्यु इन त्रिरोगोंसे छुड़ाकर अविनाशी अखंड सुखोंको प्राप्त कर देना, सो निश्चय औषधिदान है।

व्यवहार औषधिदान—शुद्ध प्रासुक औषधियोंके द्वारा अपने व परके शरीरमें उत्पन्न हुवे बात, पित्त व कफादिके प्रकोपसे जो रोगादिक उनको दूर करना सो व्यवहार औषधिदान है।

निश्चय शास्त्रदान—अपने व परके आत्मामें सम्यक् ज्ञान शक्तिका विकाश कर देना।

व्यवहार शास्त्रदान—पढ़ना व पढ़ाना, उपदेश करना व कराना, पुस्तकें तथा शास्त्र प्रकाशित कर जिज्ञासुजनोंमें वितरण करना, सरस्वती भंडार तथा वाचनालय स्थापित करना, विद्यालय बनवाना, उत्तीर्ण छात्रोंको पारितोषक देकर उनके उत्साहको बढ़ाना, जनसाधारणमें विद्याका प्रचार करना, ग्रन्थोंको सर्वसाधारणमें प्रचारार्थ अनेक भाषावोंमें भाषान्तर (उल्था) करना, प्राचीन ग्रन्थोंकी खोज करना, जीर्ण ग्रन्थोंको फिरसे लिखवाना, ग्रन्थोंको इतने सरल और इस ढंगसे लिखे कि जिसमें हरकोई समझ सके। सदा ऐसे

भाव रखना कि कोई भी प्राणी सम्यग्ज्ञानसे वंचित न रह जावे, इत्यादि सो व्यवहार शास्त्रदान है।

निश्चय अभयदान—अपने व परके आत्मावोंको विषय कषायों (मोह) रूप प्रबल वैरीसे बचाना।

व्यवहार अभयदान—अपने व परके प्राणोंकी रक्षा करना, मरतेको यथाशक्ति प्रयत्न करके बचाना, सो व्यवहार अभयदान है।

दान—यथार्थमें वही कहा जाता है, जो स्वपरोपकारार्थ दिया जाता है, परंतु जिस दानसे विषयकषायोंकी अपने व परके परिणामोंमें तीव्रता होवे, वह दान दान नहीं कहा जा सक्ता है। वह **कुदान** है।

उक्त चारों व्यवहारदान निम्नलिखित चार प्रकारसे दिया जा सक्ता है—भक्तिदान, करुणादान, समदान, कीर्तिदान,

अपनेसे गुणाधिक्य महा पुरुषोंको दान करना, सो **भक्तिदान** है, यह दान सुपात्रोंको ही भक्तिभावसे दिया जाता है।

दु:खित, भुक्षित, दीन, अनाथ, असहाय, निर्बल जीवोंको उनके दु:ख करनेके विचारसे दिया जाता है सो **करुणादान** है। इसमें कुपात्रको विचारकी मुख्यता नहीं है, किन्तु करुणा (दया) भावकी ही मुख्यता रहती है।

अपने ही समान पुरुषों सम्बन्धियों जैसे माता, पिता, भाई-बहिन, फुवा, भानजी, बेटी, बेटा, जंवाई, बहनोई, साला, श्वसुर आदिको जो द्रव्य देना (दान करना), सहायता पहुंचाना, भोग-

नादि कराना, जीमनवार करना, जातिभोज्य करना इत्यादि, यह सब समदान या व्यवहारदान है। इसमें भी पात्रापात्रके विचारकी मुख्यता नहीं है, केवल अपने व्यवहारकी मुख्यता हैं।

कीर्तिदान—जो अपने व्यवहारानुसार केवल मान बड़ाई पानेके विचारसे दिया जाता है। इसमें भी पात्रापात्रके विचारकी मुख्यता नहीं है, केवल कीर्ति (यश) प्राप्त करने, व मान बड़ाई पाने ही की मुख्यता है। इन चारों प्रकारोंमें सबसे उत्तम **भक्तिदान** है, क्योंकि वह सुपात्रों ही को ज्ञानचारित्रकी वृद्धिके अर्थ दिया जाता है।

उसके बाद **करुणादान** भी उत्तम माना गया है। यद्यपि इसमें पात्रापात्रके विचारकी मुख्यता नहीं होती, तौभी करुणा भावोंसे जो निःस्वार्थ परोपकार किया जाता है इसीसे सराहनीय है। परोपकार करना भी गृहस्थोंका एक मुख्य कर्तव्य है, कहा है—

परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः परोपकाराय दुहन्ति गावाः।
परोपकाराय वहन्ति नद्याः परोपकारार्थं इदम् शरीरम्॥

अर्थ—परोपकारके लिये वृक्ष फलते हैं, गाय दूध देती है, नदी बहती है, तब यह शरीर भी परोपकारके लिये है। और कहा है—

तरुवर कबहु न फल भखै, नदी न पीवै नीर।
पर उपकार ही कारणे, धन जिन धरो शरीर॥

वर्तमान समयमें इसी दानकी विशेष आवश्यकता है।

समदान मध्यम है क्योंकि यहां पर परस्परके व्यवहार चलाने ही की मुख्यता है और यह गृहस्थोंको कभी कभी लाचार होकर, पासमें द्रव्य न होते हुवे भी उधार लेकर करना पड़ता है, यह यथार्थमें दान नहीं है, अदलेका बदला है या जातिका ऋण है, जो देना पड़ता है।

इसकी इससमय विशेष आवश्यकता बढ़ानेकी नहीं है।

कीर्तिदान—यह निकृष्ट वा कुदान है। इसकी बिल्कुल ही आवश्यकता नहीं है। क्योंकि इससे दाता और पात्र दोनोंके विषय-कषायोंकी तीव्रता होती है। इस दानने ही इस देशमें **भिखारियोंकी संख्या बढ़ा दी है**, या यों कहो कि देशको ही भिखारी बना दिया है, इसी दानके लोलपी बड़े बड़े लष्टमुष्ट संडेमुस्तंडे पंचहते लोग परिश्रमसे पराङ्मुख होकर झटसे अनेक प्रकारके ढोंग बनाकर मांगने लगजाते हैं। वे कहते हैं—"**जो बिना परिश्रम आय, तो काम करे बलाय**" हाय! ए निर्लज्ज कापुरुष कैसे ढोंग रचते हैं? कोई चमीटा लेकर **भस्म** लगाये घूमते हैं, कोई **जटा** बढ़ाये फिरते हैं, कोई कफनी रंगे, कोई **नख** बढ़ाये, कोई धूनी रमाये रहते हैं, कोई उल्टे लटक जाते हैं, कोई जमीनमें सिर गाड़कर रहते हैं, कोई पानीमें डुबकी लगाते हैं, कोई आसन लगाते हैं, कोई दुवा देते फिरते हैं, कोई गालियां ही बकते फिरते हैं, कोई अकेले रहते हैं, कोई जमात इकट्ठी करते हैं, कोई सिर फोड़ते फिरते हैं, कोई पागल बनजाते हैं, कोई भविष्य बताते फिरते हैं,

कोई तेल पीते हैं, कोई कुस्ती लड़ते हैं, कोई कीर्तन सुनाते फिरते हैं, कोई नाचते गाते डोलते हैं, कोई घरोंघर कथा सुनानेका ढंग रचते हैं, कोई मंत्र यंत्र :झाड़फूकका घटाटोप लगाते हैं, इत्यादि नाना प्रकारसे दूसरोंकी कमाईपर हाथ फेरते हैं। जो इन्हें कुछ देता है, उसकी झूठी **स्तुति** प्रशंसा करने लगते हैं, और यदि कुछ न मिला तो सूम मक्खीचूस आदि कहकर गालियां देने लगते हैं, **फल** इसका यह होता है कि गेहुवोंके साथ घुण भी पिस जाता है। अर्थात् **दानकी प्रथासी उठती जाती है,** और इन धूर्तोंके कारण बिचारे सच्चे साधुपुरुष और दीनदु:खी अपाहीज भी दानसे वंचित रहजाते हैं। इसलिये धर्मदृष्टिसे तो **भक्तिदान** और **करुणादान** ही करना चाहिए, परन्तु व्यवहारसाधनार्थ **समदान** भी करना आवश्यक पड़ता है, और **कीर्तिदान तो देना ही व्यर्थ है,** अपने व परको हानिकारक है।

गृहस्थमात्र दान देनेके अधिकारी दाता हो सक्ते हैं।

अब **पात्र** अर्थात् दान लेनेवालोंका विचार करते हैं। पात्र तीन प्रकारके होते है—सुपात्र, कुपात्र, अपात्र, और प्रत्येक उत्तम मध्यम और जघन्यके हिसाबसे तीन तीन प्रकारके होते हैं इस प्रकार कुल ९ भेद हुवे, इनमें भी सुपात्रोंके उत्तम मध्यम और जघन्यके भी उत्तम मध्यम और जघन्य इस प्रकार तीन तीन भेद होनेसे कुल १५ भेद होते हैं जो कि नीचेके नकशेसे विदित होंगे-

- पात्र
  - सुपात्र
    - उत्तम
      - उत्तम (तीर्थंकर)
      - मध्यम (गणधर)
      - जघन्य (साधु)
    - मध्यम
      - उत्तम (उत्तमश्रावक)
      - मध्यम (मध्यमश्रावक)
      - जघन्य (जघन्यश्रावक)
    - जघन्य
      - उत्तम (क्षायिक सम्यग्दृष्टि)
      - मध्यम (क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि)
      - जघन्य (उपशमसम्यग्दृष्टि)
  - कुपात्र
    - उत्तम (जिनलिंग-धारी द्रव्यलिंगी मुनि)
    - मध्यम (जिनलिंग-धारी द्रव्यलिंगी श्रावक)
    - जघन्य (सम्यग्दर्शन रहित सम्यग्दृष्टिवत बाह्य आचारण-वाले गृहस्थ)
  - अपात्र
    - उत्तम (कुलिंगी साधु)
    - मध्यम (मंत्रादिका घटाटोप रचनेवाले गृहस्थ)
    - जघन्य (हठ कर, सिर चीर कर, आपादिका भय बताकर बलात्कार पैसा मांगनेवाले)

वर्तमान कालमें सुपात्रोंका प्राप्त होना तो दुर्लभ ही है, और सुपात्र कुपात्रकी परीक्षा करनेवाले व जानकार भी अल्प हैं। इसलिए बाह्य भेष (लिंग) ही की प्रधानता प्रायः देखी जाती है। सो बाह्य भेषधारी यथार्थ प्रवृत्ति करनेवाले भी कदाचित ही देखे जाते हैं, तब क्या दानकी प्रथा ही उठा देना चाहिये? क्योंकि अपात्रोंको दान देनेकी अपेक्षा तो द्रव्यको जंगलमें फेंक देना अच्छा है, उससे अनर्थ तो न बढ़ेगा केवल द्रव्य ही का व्यय है। और सुपात्र मिलना दुर्लभ है।

तो उत्तर यह है—कि दान (त्याग) से अपना मोहभाव कम होता है। इससे उदारता बढ़ती है, स्वपर कल्याण होता है, इसलिये दानकी प्रथा चलाना तो आवश्यक है। अब रहा पात्रापात्रका विचार सो ऊपरके नकशेसे मिलान करके देखना। यदि सुपात्र मिल जावें तो धन्यभाग समझकर भक्तिपूर्वक दान देना। इस सुपात्रदानका फल ऐसा है जैसे वड़का बीज अति अल्प होनेपर भी बहुत बड़ा वृक्ष उत्पन्न करता और बहुत फलता है। इसीप्रकार सुपात्रोंको दिया हुवा दान स्वर्गादि सुख तथा अनुक्रमसे मोक्षका दाता होता है। कुपात्रोंको दिया हुवा दान, कुभोगभूमि आदिको प्राप्त करता है, अथवा तिर्यंचगतिमें किसी राजादिके घोड़ा हाथी आदिकी पर्यायको प्राप्त कराता है। राजावोंके घोड़ों, हाथियों आदिको मनुष्योंसे भी अधिक सुख तो होता है, परन्तु मनुष्योंके जैसी स्वतंत्रता नहीं होती है। अपात्रदानका फल नर्क निगोद है। इसलिये यह

तो सर्वथा त्याज्य है। इसलिये वर्तमान कालमें **सबसे उत्तम दान विद्यार्थियोंको हो सक्ता है,** वे जबतक विद्या अध्ययन करते हैं, वहांतक उनके समान सत्पात्र तो कदाचित ही कोई मिले। बस उन (विद्यार्थियों)के विद्योपार्जनके मार्गमें जो जो अड़चनें होंवे उनको यथासंभव दूरकर मार्ग निष्कंटक कर दिया जाय, और भेदभाव रहित सर्वसाधारणको सद्विद्याका दान दिया जाय, जो विद्यार्थी भोजन चाहें उन्हें भोजन, किसीको पुस्तकें, फीस, रहनेको स्थान इत्यादिका सुभीता कर दिया जाय। बस, इससमय येही सत्पात्र हैं। इनके लिए विद्यालय (कालेज), पाठशाला (स्कूल्स), छात्राश्रम, गुरुकुल इत्यादि खोल दिए जांय उनमें मुख्यगौणका भेद लिए हुए व्यवहारिक और धार्मिक शिक्षाका उचित प्रबन्ध कर दिया जाय, योग्य निरीक्षक, परीक्षक नियत किये जांय, छात्रवृत्ति और पारितोषक आदिका प्रबन्ध किया जाय, बस यही **सत्पात्रदान** हो सक्ता है।

यद्यपि ऊपर औषधि, शास्त्र, अभय और आहार चारो ही प्रकारका दान कहा है, परन्तु उक्त चारों दानोंमें **वस्त्र, वस्तिकादि** पात्र योग्य पदार्थ भी गर्भित है, जैसे साधुवोंको पीछी कमंडलु शास्त्रादि, श्रावकोंको पात्र (वर्तन), वस्त्र, वस्तिका, पुस्तकादि भी गर्भित है, **धर्मशाला** बनवा देना, **दानशाला, औषधालय** खुलवाना, भूलोंको मार्ग बतानेका प्रबन्ध कर देना यह सब ही **उत्तमदान है।**

दान देना गृहस्थोंका कर्तव्य है और पात्रोंका कर्तव्य है कि दानका सदुपयोग करना।

दान न देनेसे भी लक्ष्मी स्थिर नहीं रहेगी, न वह साथ ही जावेगी, तब क्यों उसे (लक्ष्मीको) जो संचय करनेमें कष्ट और रक्षा करनेमें कष्ट दे, जोड़कर मिट्टीपत्थरकी तरह यों ही निरुपयोगी बनाई जाय, इसलिये यही कर्तव्य है, कि कष्ट व परिश्रमसे उपार्जन की हुई लक्ष्मीको दानमें लगाकर सदुपयोग किया जाय। इसप्रकार शक्तिस्त्यागभावनाका स्वरूप कहा। अब तपभावनाका स्वरूप कहते हैं—

(७) तप भावना।

तप—सम्यक् प्रकार इच्छावोंको निरोध करना सो तप है। यह तप बाह्य और अभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकारका है और फिर दोनोंके छः भेद हैं, इसप्रकार बारह प्रकार तप हुवा।

अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त, शय्याशन, और कायक्लेश ये बाह्य तप हैं।

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये अंतरंग तप हैं।

अनशन—अर्थात् लौकिक सत्कार ख्याति लाभ पूजादिकी इच्छाके विना संयमकी सिद्धिके लिये, वा रागादि भावोंके उच्छेद करनेके लिये, वा कर्मोंके नाश करनेके लिये, वा ध्यान स्वाध्यायकी सिद्धिके लिये, वा इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकने (दमन करने)के लिये,

प्रमादादि कषायोंको जितनेके लिये, भोजनपानका त्याग करना सो अनशन नामका तप है।

ऊनोदर—उक्त प्रयोजनोंके सिद्ध्यर्थ अल्प भोजनपान करना।

वृत्ति परिसंख्यान—अपने शरीरकी शक्ति देखकर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावानुसार किसी भी प्रकारके विशेष नियमोंको मनमें धारण करके [कि एक, दो या पांच, सात इत्यादि घरों तक ही जाऊंगा, या एक दो या अमुक टोला (फलिया) तक जाऊंगा, या रास्ते या मैदानमें ही भोजन मिलनेपर लूंगा, इत्यादि) भोजनको गमन करना और यदि नियमानुकूल बिधिसे भोजनलाभ न हुवा तो बिना किसी प्रकारका खेद किये ही पीछे बनमें आकर उपवासादि धारण कर लेना।

रस परित्याग—संयमकी वृद्धि और इन्द्री लोलुपताके घटानेके लिये घी, दूध, मिष्टान्न, तेल, दही और लवणादि रसोंका त्याग करना।

विविक्त शय्यासन—वन, गुफा, पर्वत, वस्तिका तथा जिनालय आदि एकान्त स्थानोंमें जहां ब्रह्मचर्य्य स्वाध्याय ध्यान अध्ययन इत्यादिमें कुछ विघ्न न आनेकी संभावना हो, वहां शयन व आसन करना।

प्रायश्चित्त—प्रमादके निमित्तसे लगे हुवे दोषोंकी शुद्धि करना।

विनय—पूज्य पुरुषोंका आदर करना।

वैयावृत्त्य—मुनियोंकी सेवाटहल करना।

---

१ विनयका स्वरूप विनयसम्पन्नता नाम भावनामें कह चुके हैं।

स्वाध्याय—प्रमादको छोड़ ज्ञानोपार्जन करना, कराना, वा उपदेशादि देना।

व्युत्सर्ग—बाह्याभ्यंतर परिग्रहोंकी इच्छातकको त्याग करना।

ध्यान—सब औरसे चिंताको रोककर एक ओर लगा देना।

इस प्रकार तपके बारह भेद कहे परंतु इसका यह प्रयोजन नहीं है, कि जिसप्रकार कहा गया है, उसमें कुछ भी न्यूनता हो ही नहीं सक्ती है। नहीं नहीं, न्यूनता अपनी शक्तिके अनुसार हो सक्ती है। जैनधर्ममें कोई भी व्रतादिक ऐसे नहीं हैं, कि जो सर्वसाधारण उनसे वंचित रह जांय, किन्तु सभी अपनी अपनी शक्ति अनुसार धारण कर सक्ते है। विशेषता केवल यही है, कि जितना हो, वह सच्चा हो, विपर्यय मार्गमें ले जानेवाला न हो। क्योंकि थोडे़से अधिक और पूर्ण तो हो सक्ता है, परन्तु विपर्ययका यथार्थ होना कष्टसाध्य है।

ऐसा समझकर स्वशक्त्यनुसार सभीको तपका अभ्यास करना चाहिये। क्योंकि संसारमें यदि दुःख है, तो केवल आकुलता (इच्छावोंके होनेसे)का है और तपसे इच्छावोंका निरोध (रुकावट) होता है। अतएव इच्छावोंके रुकते ही दुःख नहीं होता है, और दुःखका न होना ही सुख है। इसलिये सुखाभिलाषी प्राणियोंको शक्ति अनुसार तप करना आवश्यक है। तपसे केवल पारमार्थिक सुख होता है, यह बात नहीं है, व्यवहारिक सुख भी होता है। जिनको कुछ भी क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि परीषहोंके सहनेका अभ्यास है, वे कहीं भी रुक नहीं सक्ते हैं। सदा सर्वत्र बिहार

कर सक्ते हैं। और अचानक आये हुवे कष्टोंका वीरतासे साम्हना करते हैं, उनसे न तो घबराते है, और न खेद ही करते हैं, आप तो धैर्य रखकर कार्य करते ही हैं, परन्तु औरोंको भी सहायता पहुंचाकर राह लगाते हैं। और अपने व परके धर्मकी रक्षा करते हैं। परंतु जिन्हें अभ्यास नहीं हैं, वे थोड़े ही विघ्नबाधावोंसे घबराकर धर्मकर्म भूलकर मार्गभ्रष्ट हो बहुत दुःख पाते हैं। यह तो निश्चयहीसा है कि "श्रेयांसि बहु विघ्नानि" अर्थात् उत्तम कार्योंमें प्रायः बहुत विघ्न आया करते हैं। परंतु जो उनसे नहीं डरते वे ही उत्तम कहे जाते हैं। कहा भी है--

प्रारंभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः प्रारंभ्य विघ्न विहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नाः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमाना, प्रारंभ्य चोत्तमजनाः न परित्यजंति ॥

(इति चाणक्यनिति)

अर्थ--नीच मनुष्य तो विघ्नके भयसे कार्यारंभ ही नहीं करते है, और मध्यम पुरुष आरंभ करके विघ्न आने पर अधूरा ही छोड़ देते हैं परंतु उत्तम पुरुष वारवार विघ्न आने पर भी कर्तव्यसे नहीं हटते हैं अर्थात् आरंभ किये हुवे कार्यको पूरा करके ही छोड़ते हैं।

तात्पर्य---जो सदैव विघ्नोंसे डरते ही रहते हैं, वे कभी कोई कार्य सफल कर ही नहीं सक्ते हैं, और इसप्रकार होते होते वे इतने पतीत हो जाते हैं, कि हरएक आदमी उनसे घृणा करने लगते हैं

और वे दूसरे सबल्योंसे सताये जाते हैं। उनका सर्वस्व हरण हो जाता है, और वे घरोंघर मारेमारे फिरते हैं। उनको उन्हींकी वस्तु भिक्षा मांगनेपर भी नहीं मिलती है।

दूसरी एक बात यह है, कि कर्मका उदय सबको सदा एकसा तो रहता ही नहीं है, सदा बदलता रहता है। न जाने किससमय कैसा कर्म उदय आजाय, तो ऐसे कठिन अवसरमें फिर विना अभ्यासके क्या कर सक्ता है? क्योंकि प्रायः देखा जाता है, कि जो कल धनी थे, जिनकी लाखोंकी कोठियां चलती थीं, आज उनका दिवाला निकल गया, वे पैसे पैसेको तंग हो गये, जो हृष्ट पुष्ट थे, रोगोंसे जर्जरित हो गये, जो रूपवान थे, वे काने अंधे लंगड़े और कुरूप हो गये, जो बहु कुटुम्बी थे, उनके कोई पीछे नाम लेनेवाला भी नहीं रह गया है इत्यादि। और कई निर्धनसे धनी, रोगीसे निरोग, कुरूपसे सुरूप, और अकेलेसे बहु कुटुम्बी हो गये हैं। यह कर्मकी विचित्रता है, जो पूर्व कालमें बांधे हैं वे अवश्य उदयमें आकर रस देवेंगे ही। इन (कर्मों) से वही साम्हना कर सक्ता है, जिसको तपका अभ्यास है। वे कर्मरूपी अभेद्य गढ़को भेद सक्ते हैं, इस महा पर्वतको फोड़ सक्ते हैं। इसलिये तपका अभ्यास आवश्यक है। तपके अभ्यासी कठिनसे कठिन समयमें भी दुःखी नहीं होते हैं, और न उन्हें प्रायः कोई व्याधी (रोग) ही सताता है। क्योंकि उनका आहार विहार परमित अवस्थामें रहता है। वे इन्द्रियलंपटता वश होकर कभी सीमा उलंघन नहीं करते हैं।

आजकल लोग प्रायः अपने पुत्रपुत्रियोंको बाल्यावस्थासे ही इतने सुकुमार (निर्बल और कायर) बना देते हैं, कि वे थोड़ी भी सर्दी गर्मी सहन नहीं कर सक्ते हैं, बिना घी दूध चीनी आदि पदार्थोंके भोजन ही नहीं कर सक्ते हैं, थोड़ा मशाला कम बढ़ हुवा कि भूखे रह जाते हैं, देशान्तरोंमें वा निमंत्रण आदिमें दूसरोंके घरकी रसोई उनको रुचिकर ही नहीं होती है। वे प्रथम तो कहीं जाने ही से हिचकते हैं, और गये भी तो भूखे ही रह जाते हैं। वे विदेश जाना और कहीं भिन्न प्रकारका भोजन करना दण्ड समझते हैं परंतु जिन्हें अभ्यास है, वे कहीं भी भूखे न रहेंगे, न जिव्हा लंपटताके कारण धर्म छोड़ेंगे, उन्हें सरस या निरस जैसा भोजन चाहे जिसप्रकारका भी क्यों न मिले, परंतु शुद्ध श्रावकधर्मके अनुकूल भक्ष्य होगा, तो सहर्ष खाकर क्षुधाको मिटा लेंगे। उन्हें कष्ट न होगा, धूप व ठंडसे न घबरायेंगे, बात बातमें वैद्यकी भी आवश्यकता न रक्खेंगे. अपने कर्तव्यपर दृढ रहेंगे इत्यादि।

मेरे स्वानुभवमें तो बालकोंको इसप्रकारके कोमल, निर्बल, कायर, और लोलुप बनाना मानों बालकोंके साथ शत्रुता ही करना है। चाहे लोग भले ही इस अनर्थको प्रेम समझें। बहुतसे माता पिता अपने बालकोंको प्रशंसामें निम्नलिखित वाक्य कहकर अपनेको हर्षित करते हैं कि हमारा बेटा या भाई बहुत ही कोमल है वह तनक भी शीत उष्ण नहीं सह सक्ता है, न उसका कहीं पेट भरता है, एक ग्रास कम बढ हुवा कि बस, उसका पेट दुखने लगता है इत्यादि, परन्तु मैं तो इस सुकुमारताको कायरता ही समझता

हूं । मेरे विचारसे बच्चोंको बाल्यावस्थासे ही सहनशील और दृढ़ बनाना चाहिये। क्योंकि निर्बल न तो संसार व्यवहार ही भले प्रकार चला सक्ते है, और न परमार्थ ही कर सक्ते हैं। क्योंकि आजतक जितने जीव मोक्ष गये व आगे जांयगे, वे सब बहुत बलवान वज्र-ऋषभनाराच संहननवाले ही थे, और होंगे। देखो, पार्श्वनाथ प्रभु कमठके उपसर्गसे नहीं चिगे, देशभूषण कुलभूषण स्वामीने दुष्ट राक्षस कृत उपसर्ग जीता, और भी सुकुमाल सुकौशल, पांडवादि महां मुनियोंने घोर उपसर्ग सहन किये और परम पद पाया है। इसलिये यथाशक्ति ऊपर कहे अनुसार बारह प्रकारके तपोंका निरंतर अभ्यास करना चाहिये। इस प्रकार तप भावनाका स्वरूप कहा।

(८) साधुसमाधि भावना ।

साधु समाधि—अर्थात् आयुके अंतमें निःशल्य होकर प्राणोंका विसर्जन करना। इसे सन्यास मरण भी कहते हैं। जिस समय प्राणी अपनी वृद्धावस्था हुई जाने, अथवा अपने आपको असाध्य रोगसे ग्रसित हुवा देखे, अथवा शत्रुके सन्मुख युद्ध स्थलमें मरनोन्मुख घावोंसे जर्जरित शरीर हुवा जाने, वा अन्य प्रकारसे शत्रुके हस्तगत हो मृत्युका साम्हना लाचार होकर करना पड़े, या अथाह समुद्रमें नाव आदिके टूट जाने व अन्य कारणोंसे गिर पड़ा हो, गिरि वनादिमें मार्गभ्रष्ट हो गया हो, चहुं ओर अग्निकी

ज्वालावोंसे घिर गया हो, अथवा और भी किसी प्रकारसे जब उसे यह निश्चय हो जावे, कि अब अवश्य ही मुझे इस वर्तमान शरीरको छोड़ना ही पड़ेगा, अब इसकी रक्षाका कोई उपाय नहीं है, इत्यादि। तो निशल्य होकर अर्थात् माया, मिथ्या और निदान इन तीनों शल्योंको छोड़ कर, **शरीरसे ममत्वको छोड़ देवे।** क्योंकि जो हमें छोड़ना चाहता है, या बलात्कार हमसे अलग हुवा चाहता है, उसे हम उसके छोड़नेके पहिले ही यदि छोड़ देवें, तो हमको उसमें निर्ममत्व भाव होनेके कारण किंचित भी दुःख न होगा, और हम सानन्द उससे छुटकारा पा जावेंगे। प्रथम तो यदि यथार्थ **समाधि** बन जावे, तो पुनः शरीर पाना (जन्म मरण करना) ही न होगा। और कदाचित कोई पूर्वसंचित तीव्रकर्मोंका फल भोगना शेष रह गया हो, कि जिसके लिये शरीर धारण करना ही पड़े, तो स्वर्गादिमें उत्तम देव, मनुष्योंमें राजा आदि उत्तम मनुष्य होंगे। जो कि एक दो आदि बहुत ही कम भव धारण कर सदाके लिये शरीर (जन्म मरण) से रहित होकर परमपदको प्राप्त करेंगे। यह तो निश्चय है, कि इस शरीरको अवश्य ही किसी न किसी दिन छोड़ना ही पड़ेगा क्योंकि जब तीर्थंकर, चक्रवर्ति, नारायण, आदि शलाका पुरुषोंका ही शरीर स्थिर नहीं रहा है, तो अन्य शक्तिहीन जीवोंका शरीर स्थिर रह सकेगा, यह कल्पना आकाशमें महल बनानेके सदृश है। फिर जब यह स्थिर ही न रहेगा, तो इससे ममत्व करना (रखना) मूर्खता नहीं तो क्या है? क्योंकि ज्ञानी पुरुष कभी अस्थिर पदा-

र्थको नहीं अपनाते हैं, न उसके उत्पन्न होने व नाश होनेसे वे कभी अपने भावोंको विचलित करते हैं। कारण वे जान्ते हैं कि वस्तुका स्वरूप ही उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है। वह पर्यायापेक्षा उत्पन्न और नाश होता है, और द्रव्य अपेक्षा ध्रौव्य रहता है। जो इसमें रागद्वेष करता है, वही इस असार संसारमें जन्म मरणके दुःखोंको सहता है। इसलिये यही उत्तम है, कि इससे निर्ममत्व होना। यद्यपि यह शरीर (नर देह) जप तप व्रतादिके द्वारा मोक्षका साधन स्वरूप है, और इसी लिये मुनि इत्यादि भी इस शरीरकी यथासंभव रक्षा करनेके लिये उदासीन रूपमे गृहस्थोंके द्वारा प्राप्त हुवा शुद्ध प्रासुक आहार औषधादि ग्रहण करते हैं। परन्तु जब देखते हैं, कि अब उपाय करना व्यर्थ हैं अर्थात् इस (शरीर) की रक्षाकी चिंता करनेमे भी रक्षा न हो सकेगी, और उल्टा खेद होगा, तो वे इससे ममत्व छोड़ कर एकान्त स्थानमें एकाकी किसी एक आसनसे आत्मध्यानमें लीन हो जाते हैं। वे यम (यावज्जीव) अथवा नियम (रोगादिक प्राणघाती उपसर्गके दूर होनेतक घड़ी, पहर, दिन, पाख, मास अयनादिका प्रमाण) करके प्रतिज्ञा पूर्वक आये हुवे उपसर्ग व परीषह आदिको प्रसन्नतासे सहन करते हैं। और अंतमें शरीरका भी त्यागकर स्वर्ग मोक्षादि गतिको प्राप्त करते हैं। उपसर्ग व परीषहोंमें ध्यान जभी विचलित हो सक्ता है, जबतक कि उनके आधार शरीरसे कुछ प्रेम हो, परंतु जब शरीरही से कुछ प्रेम नहीं है कि जिसपर उपसर्ग आते हैं, तो भला फिर आत्मा जो कि इस जड़ पुद्गलमय शरीरसे सर्वथा

भिन्न स्वाश्रित ज्ञानानन्द स्वरूप चैतन्य अखंड अविनाशी अनुपम पदार्थ है, उसे कैसे दुःख हो सक्ता है इत्यादि विचार करके आत्मध्यानमें निमग्न हो जाते हैं, इस प्रकारसे समभावपूर्वक जिनका मरण होता है, सो समाधिमरण कहलाता है।

यह **समाधिमरण** उन्हींका हो सक्ता है, कि जिनको चिरकालसे उपसर्ग व परीषहादि सहन करने, और विषयकषायोंके मंद करनेका अभ्यास है, जिन्होंने अपने शरीरको इतना दृढ़ बना रखा है, और मन तथा इन्द्रियोंको वश कर लिया है, जो राग द्वेषादि शत्रुओंके आधीन नहीं हैं, जिनके अंतरंगसे संसारमें कोई शत्रु नहीं हैं, जो सदा मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, और माध्यस्थ भावनावोंका विचार किया करते हैं, जिन्होंने इच्छावोंको रोक रखी हैं, जो चारों प्रकारके (धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष) पुरुषार्थोंके साधनमें तत्पर रहते हैं, जो प्रमाद और कायरतासे पराङ्मुख हैं, जो मोह, शोक, भय, ग्लानि, चिंता, हास्य, रति, अरति, इत्यादिमें कभी फंसकर नहीं रहते हैं, जो सदा स्वदोष स्वीकार और परगुण ग्रहण करनेको तत्पर रहते हैं, और स्वगुण कीर्तन व परदोष कथनसे अपने आपको बचाते रहते हैं, सदा साधु (सत्पुरुषों) जनोंकी संगतिमें, अथवा ज्ञानाभ्यासमें कालयापन करते हैं, स्वपर उपकारमें दत्तचित्त रहते हैं, संसारिक सुखोंको भोगते हुवे भी उनसे विरक्त रहते हैं, जो सदा प्रसन्नमुख रहता है, मृत्युको अपना उपकारी समझता है इत्यादि **इस प्रकारका चिराभ्यासी पुरुष ही समाधिमरण कर सक्ता है।** जिस प्रकार घरमें आग लगने पर कुवा

खोदना व्यर्थ है, उसी प्रकार आसन्न मृत्यु पुरुषको समाधिका प्राप्त होना कठीन है, क्योंकि जीवको बंध समय समय प्रति होता रहता है और उसीके अनुसार त्रिबलीमें आयुका बंध होता है, बंधके अनुसार अंत समयमें परिणाम होजाते हैं। और उससे कदापि समाधिमरण नहीं हो सक्ता है इसलिये पहिलेसेही अभ्यास करना आवश्यक है।

समाधिमरणकी इच्छा रखनेवाले प्राणियोंको चाहिये कि वे आसन्न मृत्युका कारण देखकर या अपनी वृद्धावस्थाका विचारकर प्रथमही अपनी सम्पत्तिकी (यदि गृहस्थ हो तो) व्यवस्था करके अर्थात् जिसको जिस प्रकार देना हो, सो विभाजित कर शेष द्रव्य धर्मकार्योंके निमित्त प्रदानकर उससे अपने आत्माको निर्ममत्व करे, पश्चात् रागद्वेषके परिहारार्थ अपने पर्याय सम्बन्धी शत्रुवों (अर्थात् जिनसे कुछ भी रागद्वेष हो गया हो) को बुलाकर उनसे क्षमा करवावें और अपने आप भी उनपर क्षमा प्रदान करें, उन्हें जिसतिसप्रकार संतोषित करे, फिर यदि शक्ति हो तो मुनिव्रत धारण करके समाधिमरणकी तयारी करो, और यदि एकाएक ऐसा न हो सके तो घरमें रहकर ही क्रमशः अभ्यास करो, धीरे धीरे आहार कम करते जावो, स्वाद रहित सादा, शुद्ध, प्रासुक भोजन करो, कभी कभी उपवास (चारों प्रकारके आहारोंका त्याग) करते जावो, कभी दूध, कभी पानी, कभी छांछ परही दिवस निकाल देवो, और जब इस प्रकार होनेसे परिणामोंमें कषायभाव न हों, धैर्य न छूटे तब अधिक अधिक

उपवासका अभ्यास बढाते जावो, इसी प्रकार शीत उष्णादि परीषहोंका अभ्यास करो, पलंग व कोमल गादियोंका सोना त्याग कर घासकी चटाई, कम्बल या भूमि आदिपर सोनेका अभ्यास डालो, और ज्यों ज्यों अभ्यास होता जाय त्यों त्यों बाह्य परिग्रहोंका त्याग करते जावो। संसारकी विचित्र अवस्था है, इसमें अनेक पुरुष गुणको भी अवगुण रूपसे ग्रहण करके अथवा निष्कारण ही शत्रु बन बैठते हैं, वे अनेक प्रकारके दुर्वचन कहते हैं, मारते भी हैं, ऐसी अवस्था उपस्थित होनेपर समभावको धारण करना, और जब सब प्रकार मन व इंद्रियें वश होजांय, विषयाभिलाषा घट जाय, कषायोंकी अतिशय मंदता हो जाय, तो सर्वथा परीग्रह और गृहवास त्याग कर **साधुसमाधि** धारण करे, परन्तु यदि बीचमें मरणका अवसर प्राप्त हो जाय तो सब ओरसे चित्तको खींचकर अपने आत्माकी ओर लगाले, यदि यह न होसके तो धर्मध्यानमें व दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपादि आराधनामें लगावे, आहारविहारका परित्याग करदे, कर्मयोगसे आये हुवे उपसर्ग व परिषहोंसे विचलित न होवे, ऐसा विचार करे कि ये उपसर्ग व परीषह तो पूर्वकर्मकृत उपाधियां हैं, इनका प्रभाव तो केवल पुद्गलपर हो सक्ता है, जीव तो उपाधि रहित अव्याबाध है इत्यादि, अथवा यों विचारे कि मुझसे पहिले भी ऐसे ऐसे व इससे भी अधिक उपसर्गादि बड़े बड़े पुरुषोंको आ चुके हैं, जैसे देशभूषण, कुलभूषणस्वामीको कुंथुगिरिपर, पांडवोंको सेत्रुंजय गिरिपर, अकंपनाचार्यादि सातसौ मुनियोंको बलि मंत्रीद्वारा, सात-

सौ मुनियोंको दंडकवनमें घाणीमें पेलदिया गया, इत्यादि और भी अनेकों महात्मावोंको अनेकों उपसर्ग सुरनर पशुवोंद्वारा व अचानक उपस्थित हुवे, परंतु उनसे वे किंचित भी नहीं विचलित हुवे, तो मेरे कितना कष्ट है, इत्यादि चिंतवन करके अपने चित्तको स्थिर रखे, अथवा यह सोचे कि घबराने व रोनेमें कुछ दुःख दूर नहीं होगा, किन्तु उल्टा कर्मबन्ध होगा इसलिये समभाव ही धारण करना उचित है। कर्म उपार्जन तो मैंने ही किये हैं, तब कर्मफल भी मुझे ही भोगना पड़ेगा, और जब शुभ कर्म ही स्थिर नहीं रहता है, तो भला अशुभ कर्म किसप्रकार स्थिर रह सकेगा ? इसलिये इस बिनाशिक कर्मके उदयजनित फलमें कायर होना भूल भरा हुवा है, व्यर्थ है। इत्यादि चिंतवनकर अरि, मित्र, महल, स्मशान, कांच, कंचन, सुख दुःखादिमें समभाव धारण कर आराधनासे मरण करे सो **समाधिमरण** या साधु समाधि है। इसप्रकार साधु समाधि भावनाका वर्णन किया, अब वैयावृत्य भावनाका स्वरूप कहते हैं—

[९] वैयावृत्यकरण भावना।

वैयावृत्य—अर्थात सेवा करना। सेवा करनेका मुख्योद्देश यह है कि जिससे कोई भी प्राणी रोगादिक अस्वस्थताके कारण कायर होकर आत्मघात न करले, तीव्र कषायोंके द्वारा कुमरण कर दुर्गतिमें न जा पड़े, कोई सहाई न देखकर अपने श्रद्धान (दर्शन)

और चरित्रसे विचलित न हो जांय, इन असहाय रोगी, अस्वस्थ जनोंको देखकर अन्यान्य धर्मात्मा धर्ममें शिथिल न हो जांय, इत्यादि।

यह सेवा (वैयावृत्य) दो प्रकार से होती है। (१) भक्तिसे (२) करुणासे ।

भक्तिसेवा—अर्थात् भक्त (सेवक) से जो दर्शन (श्रद्धा), ज्ञान, चारित्र, तप आदि गुणोंमें अधिक हो उसकी सेवा करना। अर्थात् भक्त जिन महात्मावोंके गुणोंमें आशक्त हो, अथवा जिनके गुण अनुकरणीय हों, और भक्त उनके द्वारा उनके उन सद्गुणोंकी प्राप्ति अपने आपमें व अन्यजनोंको करना चाहता है, इसलिये उनकी सेवा टहल करता है, कि जिससे उन महात्मावोंका शरीर स्वस्थ रहे और उनके द्वारा धर्म व ज्ञानकी प्रवृत्ति होती रहे, जिससे वे स्वयम् धर्ममार्गमें दृढ़ रहकर अन्य प्राणियोंको भी दृढ़ रख सकें, ताकि सेव्य और सेवक दोनोंका कल्याण हो, दोनों सच्चे सुखको प्राप्त हों इसलिये उनकी सेवा टहल करता है क्योंकि कहा है " **न धर्मो धार्मिकैः विना** " अर्थात् धर्मात्माके बिना धर्मकी प्रवृत्ति नहीं रह सक्ती है। इसे भक्ति सेवा कहते हैं। इसमें अनुकरणीय गुणोंकी मुख्यता देखी जाती है, जैसे मुनि आदि साधर्मीजनोंकी सेवा सुश्रूषा करना, इत्यादि ।

करुणा सेवा—इसमें गुणदोषोंकी ओर दृष्टिपात न करके केवल दया ही की प्रधानता रहती हैं। यह सेवा संसारके नर पशु आदि समस्त प्राणियोंकी निःस्वार्थ वृत्तिसे की जाती है।

विनय और वैयावृत्यमें केवल अन्तर यही है, कि विनय तो केवल वयोवृद्ध, गुणवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, चारित्रवृद्ध और तपादि गुण-वृद्ध सम्यग्दर्शन पुरुषकी उसके गुणोंका अनुकरण करने व गुण प्राप्तिके अर्थ की जाती है, और वैयावृत्य केवल अस्वस्थ (रोगावस्था) अवस्थामें प्राणी मात्रकी उनको रोगमुक्त करनेके लिये की जाती है।

वैयावृत्य करनेवाले पुरुषको निर्विचिकित्सा अङ्ग अवश्य ही धारण करना पड़ता है। क्योंकि वात, पित्त, और कफादिके प्रकोपसे प्राणियोंके शरीरमें अनेक प्रकारकी व्याधियां जैसे ज्वर, दमा, कफ, खांसी, स्वांस, सन्निपात, फोड़ा, फुन्सी आदि उत्पन्न हो जाती हैं, जिनके कारण पसीना (पसेव=स्वेद), लार, पीब, लोहू, मल, मूत्र, कफ आदि दुर्गन्धित पदार्थ शरीरसे निकलने (बहने) लगते हैं; मक्खी, चिउंटी, चींटा, मंकोड़ा, मच्छर आदि जीव उसे घेर लेते हैं, उसके श्वासोश्वासमें भी दुर्गन्धि निकलने लगती है। ऐसी निर्बल अवस्थामें प्राणियोंका धैर्य छूट जाता है, व अनेक प्रकारके अनर्थ रोगमें कायर होकर कर बैठते हैं। इसलिये उनकी ऐसी दीन हीन अवस्थामें ग्लानिरहित भक्त व दयावान पुरुष ही उनकी सेवा सुश्रुषा (वैयावृत्य) कर सक्ता है। यह महान् पुण्योत्पादक कार्य नाक भौंह सिकोड़नेवाले डरपोंक कायरोंके भाग्यमें ही प्राप्त नहीं हो सक्ता है। भला, जिस अवस्थामें साथी, पुत्र, कलत्र, बांधव, मित्र, पड़ौसी, सेवक, सम्बन्धी आदि ही छोड़कर चले जाते हैं, यहांतक कि रोगी स्वयम् ही अपने शरीरसे उदास होकर ग्लानि-युक्त हो जाता है, तब क्या कह सक्ते हैं कि अन्य कायर ग्लानि-

युक्त मनुष्योंसे यह पुण्यकार्य सम्पादन हो सकेगा? कभी नहीं, कभी नहीं।

डाक्टर, वैद्य, हकीम, जर्राह तथा दाई (Midwife) आदिको तो सर्वथा ग्लानिरहित ही होना चाहिये, क्योंकि उनके पास तो सब जातिके ऊंचनीच और सब प्रकारके रोगी मनुष्य आते हैं। और उनका कर्तव्य भी है कि वे सबको प्रेमसे, भक्तिसे, दयासे, सुललित शब्दोंसे सम्बोधन करते हुवे उनकी चिकित्सा करें, सेवा करें न कि लोभवश निम्न कहावतको चरितार्थ करें–

वैद्यराज नमस्तुभ्यम्, यमराज सहोदरा।
यमः हरतु प्राणान्, वैद्य प्राण धनानि च ॥

अर्थात्—हे वैद्यराज! तुमको दूरसे ही नमस्कार है (हम तुम्हारी चिकित्सा नहीं कराना चाहते हैं) क्योंकि तुम यमराजके भाई हो। नहीं, उससे भी अधिक हो, कारण यमराज तो केवल प्राणोंको हरण करता है, परंतु तुम (लोभी वैद्य) प्राण और धन दोनोंको हरण करते हो। यथार्थमें वैद्यविद्या केवल परोपकारार्थ ही है न कि धन इकत्र करनेके लिये है, जैसा कि प्रायः आजकलके अनेक वैद्य कर रहे हैं।

वैयावृत्य करना मनुष्य मात्रका कर्तव्य है, वैद्योंपर ही यह निर्भर नहीं है, हां इतना अवश्य है कि वैद्य जनसाधारणकी अपेक्षा इस कार्यको चतुराईमें विशेषता पूर्ण कर सक्ते हैं, परन्तु इसका यह आशय नहीं है, कि और कोई बिल्कुल ही नहीं कर सक्ता है, नहीं

प्रत्येक नरनारी अपनी शक्ति और बुद्धि अनुसार अवश्यही थोड़ी बहुत संघकी वैयावृत्य कर सक्ता है ।

ध्यान रहे कि वैयावृत्य अस्वस्थ रोगी प्राणियोंही की जाती है न कि स्वस्थ लट्टमुट्ट संडमुस्तंड लोगोंकी, क्योंकि चिकित्सा तो रोग की होती है और जब कि कोई रोग ही नहीं है, तो चिकित्सा काहेकी की जाय? जो लोग स्वस्थ अवस्था में भी किसी भेष विशेषको धारण करके स्त्री पुरुषोंसे अपनी सेवा टहल कराते हैं, हाथ पैर मलवाते हैं, शरीरमर्दन व लेपादि कराते हैं, पौष्टिक औषधादि पाक मोदक बनवाकर रसास्वाद करते हुवे भोजन करते हैं वे यथार्थमें ठग, धूर्त, व्यभिचारी चोर, विषय लम्पटी, कायर और नीच हैं। ऐसे लोगोंसे दूर रहकर ही अपने धर्मकी रक्षा करना उचित है, और अपने साथियों व जन-साधारण को ऐसे भयंकर जीवोंसे बचानेके लिये सचेतकर देना उचित है ।

उत्तम पुरुष तो जहांतक संभव है और उनके शरीरमें शक्ति रहती है व उनके परीणाम स्थिर रहते हैं, वहांतक वे कभी किसीसे सेवा कराते ही नहीं हैं, वे शरीरसे बिल्कुल निःस्नेह रहते हैं, यहांतक कि वे अपने आप भी अपनी वैयावृत्य शक्ति रहते हुवे भी नहीं करते हैं, और अपनी सम्पूर्ण शक्ति आत्माकी ओर लगाकर एकान्त स्थान (गिरि, वन, गुफा,) में एकासनसे समाधिस्थ हो जाते हैं। वे आत्मध्यानको ही सम्पूर्ण रोगोंकी परिहार करनेवाली औषधि समझते हैं ।

मध्यम पुरुष—अपनी चिकित्सा (वैयावृत्य) आप यथासंभव कर लेते हैं, वे दूसरोंको उनके आवश्यकादि कार्योंसे छुड़ाकर सेवा कराना नहीं चाहते हैं।

जघन्य—अपने आप शक्ति न रहते हुवे, अपने परिणामोंको स्थिर रखनेके हेतु रोगका परिहार करनेकी इच्छासे किसी साधर्मी सज्जन सदाचारी पुरुषद्वारा उसकी सेवा करनेकी इच्छा देखकर वैयावृत्य करना स्वीकार कर लेते हैं।

उत्तम और मध्यम पुरुषोंमें तो केवल साधु महात्मा ही गिने जाते हैं जो उस उच्चावस्थाको पहुंच चुके हैं, और जिनके परिणाम घोरतम उपसर्ग तथा परीषहादि आने पर भी अचल मेरुवत् चलायमान नहीं होते हैं।

और जघन्यमें साधु आदि गृहस्थ भी होते हैं।

मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इनकी वैयावृत्य करना सो तो भक्तिकी अपेक्षासे होती है। और इनसे इतर प्राणीमात्रकी वैयावृत्य करना है, सो करुणा (दया) अपेक्षा है।

वैयावृत्यमें ये दो (भक्ति और करुणा) ही कारण प्रधान होसक्ते हैं। जब कि मुनि (साधु) भी अपने संघकी वैयावृत्य करते हैं। तब गृहस्थोंका तो यह मुख्य कर्तव्य होना ही चाहिये। देखो, **भगवती आराधनासार** ग्रन्थमें एक साधुकी वैयावृत्य करनेके लिये अड़तालीस (४८) साधु (उत्कृष्ट रीतिसे) और (जघन्य रीतिसे) कमसे कम दो साधु अवश्य ही रहते हैं। जिससे क्षपक (अस्वस्थ साधु) के परिणामोंमें कुछ विकल्प न होने

पावे, और वैयावृत्य करनेवालोंके भी अपने नित्यावश्यक क्रिया-ओंमें कुछ बाधा न पहुंचने पावे। तात्पर्य—साधु भी वैयावृत्य करना अपना एक धर्म समझते हैं, तब गृहस्थको तो समझना ही चाहिये।

साधुकी वैयावृत्य—तो केवल उनके योग्य वस्तिकाका प्रबन्ध कर देना, भोजनके साथ उसी समय उनकी प्रवृत्ति, द्रव्य, क्षेत्र और कालानुसार योग्य प्रासुक औषधि देना, हस्त पादादि चांपना, पुस्तक, पीछी, कमंडलु, सांथरा (बिछानेको घास) आदि प्रबन्ध कर देना, और नम्र विनययुक्त मधुर वचनोंसे स्तुति रूप सम्बोधन करना इत्यादि है।

गृहस्थोंकी वैयावृत्य—उनके योग्य औषधिका उपचार करना, उठाना, बैठाना, सुलाना, मलमूत्रादि साफ करना, वस्त्र बदलना, पथ्य भोजन कराना, धर्मोपदेश देकर धैर्य बंधाना, उसके कुटुम्बी व आश्रित जनोंको शांति देना, यदि निर्धन है तो उसके व उसके आश्रित जनोंके भोजन वस्त्रादिका उचित प्रबन्ध कर देना इत्यादि यही सेवा है।

वैयावृत्य करनेवाला किसी पर उपकार नहीं करता है, किन्तु यह उसका कर्तव्य ही है, उसे अपनी सेवाका अभिमान न होना चाहिये, न रोगीको बार बार दबाना चाहिये "कि यदि मैं न सेवा करता तो मिनक जाता" इत्यादि और न उसको उसके प्रतिफलकी इच्छा रखना चाहिये। प्रतिफल तो मिलता ही है तब व्यर्थ क्यों ऐसी कुवासनाओंसे अपनी आत्माको कलुषित किया जाय? सेवा करनेवाला यथार्थमें परका नहीं किन्तु अपना निजका ही

उपकार करता है क्योंकी रोगीकी सेवा तो यदि उसका शुभ उदय हो और असाताका क्षयोपशम हो, तो अवश्य ही कोई न कोई उसकी सेवा करनेको मिलही जाता है, परंतु अभिमानी सेवकके हाथसे वह सेवा करनेका शुभ अवसर चला जाता है जिसके कारण वह एक महत्पुण्य कार्यसे वंचित रह जाता है।

यदि व्यवहारदृष्टिसे भी देखा जाय, तो भी संसारमें विना परस्परकी सहायताके कार्य नहीं चल सक्ता है, एक आदमी दूसरेका कोई उपकार करता है, तो दूसरा भी पहिलेको उसका बदला किसी न किसी रूपमें चुका ही देता है, मालिक यदि नौकरका उपकार उसे उसका और उसके कुटुम्बपोषणके निमित्त द्रव्यसे उपकार करता है, तो नौकर भी सेवा चाकरीसे मालिकका उपकार करता है। इससे यह सिद्ध होता है, कि संसारमें सब जीवोंका निर्वाह बिना परस्परके उपकार, सहायता, सेवा, सुश्रूषा, मेल मिलाप आदिके नहीं हो सक्ता है, इसलिये वैयावृत्य करना परमावश्यक है।

निश्चयमें वैयावृत्य द्वारा स्थितिकरण अंगका पोषण होता है। वैयावृत्यमें अतिथिसंविभाग व्रतको भी कहीं कहीं गर्भित किया जाता है। कारण क्षुधा भी एक प्रकारका रोग है जो भोजन रूपी औषधिसे मिटता है, और क्षुधाकी वेदना बढ़नेसे भी अनेकानेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं, तथा परिणाम भी विचलित हो जाते हैं इसलिये अतिथिसंविभाग व्रत भी वैयावृत्यमें गर्भित हो सक्ता, है इसप्रकार वैयावृत्यकरण अंगका स्वरूप कहा। अब अर्हद्भक्ति नाम अंगका स्वरूप कहते है—

(१०) अर्हद्भक्ति भावना।

अर्हद्भक्ति—अर्थात् अर्हन्त (जिन या आप्त) भगवानकी उपासना करना। अर्हन्त, जिन और आप्त ये तीनों एकार्थवाची हैं। अर्हन्त उसे कहते हैं, जो भव्य जीव अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्रके बलसे चारों घातिकर्मों [ज्ञानावर्णीय=ज्ञानको ढकनेवाला, दर्शनावर्णीय=देखनेकी शक्तिको ढकनेवाला, अंतराय=अनंत बलको रोकनेवाला अर्थात् विघ्न करनेवाला और मोहनी=सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र (जिसके कारण अनन्त सुख आत्माको होता है) को रोकनेवाला) को नष्ट करके सयोगकेवली नामके तेरहवें गुणस्थानको प्राप्त किया है।

यह जीव अनादि कालसे कर्मका प्रेरा चतुर्गतिकी चौरासी लाख योनियोंमें परिभ्रमण करता है। भ्रमण करते करते कालादि लब्धियोंके प्रभावसे जब कभी यह अपने स्वरूपका चिंतवन करता है उसे करण कहते हैं, उसमसमय यह अपने आत्माको पुद्गलादि जड़ पदार्थोंसे भिन्न अखंड, अविनाशी, चैतन्य, ज्ञानानन्द स्वरूप, अनन्त शक्तिवाला अनुभव करता है। इससमय उसके परम आल्हाद-रूप भाव होते है, और वह उससमय त्रैलोक्यके इन्द्रीजनित सुखोंको अपने सच्चिदानन्द स्वरूपके अविनाशी सुखोंके साम्हने तृणवत्, विनाशिक और कर्मजनित पराधीन उपाधि समझता है। इस प्रकारकी मंद विशुद्धरूप अवस्थाको सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्वकी अवस्था कहते हैं यहींसे वह जीव चतुर्थ गुणस्थानवर्ती कहाता

है, जब वह क्षायक रूपसे चतुर्थ गुणस्थान (अविरत सम्यक्त्व)को प्राप्त करता है. उसीसमय उसके मोहकर्मकी सात प्रकृतियों (अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, और लोभ ये चौकड़ी चारित्र-मोहकी और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व ये तीन दर्शनमोहकी) को क्षय करता है। पश्चात् अप्रत्याख्याना वरणी अथवा प्रत्याख्यानावरणी क्रोध, माया, मान और लोभ इन चारित्रमोहकी चौकड़ियोंके उपशमसे उपशम चारित्रको प्राप्तकर अनिवृत्ति बादरसाम्पराय नाम नवमें गुणस्थानमें निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, ये तीन दर्शनावरणीय कर्मकी और नर्कगति, पशुगति, नर्कगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्री, द्वेन्द्री, त्रेन्द्री, चौइन्द्री, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म, और साधारण, ये तेरह नामकर्मकी, इस प्रकार सोलह प्रकृतियोंका क्षय करके तिसहीके पीछे उसी गुणस्थानमें अप्रत्याख्यानावरणीय और प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया और लोभकी दोनों चौकड़ियां अर्थात् आठों चारित्रमोहकी प्रकृतियोंको क्षयकर क्रमसे नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया ये तीन, इस प्रकार बीस चारित्र-मोहकी और तेरह नामकर्मकी और तीन दर्शनावरणीयकी, कुल ३६ छत्तीस प्रकृतियोंको क्षय करके क्षपक श्रेणीमें आरूढ़ हुवा दशवें सूक्ष्मसाम्पराय नाम गुणस्थानमें सूक्ष्म लोभ चारित्र मोहकी संज्वलन चौकड़ीमेंसे जो एक प्रकृति शेष थी उसे क्षय करता है। पश्चात् दशवेंसे एकदम बारहवें क्षीणकषाय नाम गुण-

स्थानमें पदार्पण करके (ग्यारहवें उपशांतकषाय गुणस्थानमें उपशम श्रेणी चढ़नेवाला ही जाकर पीछे पड़ जाता है, क्षपकवाला नहीं जाता है) उपान्त्य समयमें (अंतके समयसे पहिले समयमें) निद्रा और प्रचला इन दो दर्शनावरणीय प्रकृतियोंका क्षय करके अंतके समयमें मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पांचों ज्ञानोंको ढकनेवाली पांच ज्ञानावरणीय, चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल इन चार दर्शनको रोकनेवाली दर्शनावरणीय, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य (बल) इन पांचको रोकनेवाली अंतरायकी, इसप्रकार चौदह प्रकृतियोंका क्षय करके सयोगकेवली नाम तेरहवें गुणस्थानमें प्रवेश करता है. यहांतक कुल त्रेसठ प्रकृतियोंका क्षय हो जाता है. ऊपर बताई हुई ज्ञानावरणीय पांच, दर्शनावरणीय नव, अंतरायकी पांच, मोहनीय अठाईस, नामकर्मकी तेरह इसप्रकार साठ और देवायु, नर्कायु और तिर्यंचायु ये तीन आयुकी कुल त्रेसठ (६३) हुई।

जब जीव इसप्रकार इन ६३ प्रकृतियोंका क्षय करलेता है तब उसे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य (बल) प्राप्त होता है—आत्माकी स्वाभाविक दिव्य शक्ति प्रकट होती है। क्षुधा, तृषा, राग, द्वेष, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, भय, विस्मय, अरति, स्वेद, खेद, मद, मोह, रति, निद्रा ये अठारह प्रकारके दोष बिल्कुल उसमें नहीं रहते हैं, उसपर उपसर्ग व परीषहोंका जोर नहीं चलता है, तब वह जीव सकल परमात्मा

पदको प्राप्त हो जाता है, उसके नवीन कर्मोंका बन्ध नहीं होता है, पूर्व बंधे शेष अघाति कर्मकी ८५ प्रकृतियोंकी कर्मवर्गणावोंकी निर्जरा समय समय प्रति असंख्यातगुणी होती जाती है। तब ईन्द्रादिक देव अपने अवधिज्ञानके बलसे तथा उस विशुद्धात्माके प्रभावसे प्रभुको केवलज्ञान उत्पन्न हुवा जानकर समवसरण या गंध कटीकी रचना करते हैं, जिसके मध्य वह विशुद्धात्मा, वीतराग, सर्वज्ञ प्रभु अपने दिव्य केवलज्ञानके द्वारा देखे और जाने हुवे संसारके तत्वोंका स्वरूप यथावत् सुर, नर, तिर्यंचादिक जीवोंको अपनी अमृतमयी दिव्य ध्वनिके द्वारा सकल जीवोंके कल्याणार्थ उपदेश करता है, सुनाता है, ऐसे उत्कृष्ट केवलज्ञान संयुक्त विशुद्धात्माको सकल परमात्मा, जिन, अर्हन्त या आप्त कहते हैं, इसीको जीवन्मुक्त भी कहते हैं, क्योंकि अब इसको मुक्ति दूर नहीं है, आयुके अंत होते ही शेष ८५ प्रकृतियोंको क्षय करके शरीर त्याग कर लोकशिखर पर तनवातवलयके अंतमें सदाके लिये स्वस्वरूपमें निमग्न हुवे, अविनाशी, अखंड, सच्चिदानन्द स्वरूपको प्राप्त करेगा तब उसे निकल (शरीर रहित) परमात्मा या सिद्ध या **मुक्त जीव** कहते हैं।

यह पद प्रत्येक भव्य जीव प्राप्त कर सक्ता है, परंतु **प्रत्येक कालचक्रमें चौवीस वीशेष जीव** होते हैं जिन्हें अवतार या **तीर्थंकर** (धर्मतीर्थके प्रवर्तक) कहते हैं, ये विशेष पुण्यात्मा होते हैं, और इनके गर्भमें आते ही वह नगरी जिसमें उत्पन्न होनेवाले हों, इन्द्रादिक देवोंके द्वारा सजाई जाती है।

वह माता जिसके ये गर्भमें आये हों, देवियों कर सेवित होती है, नगरी-में नित्य इन्द्रादिदेव रत्नवृष्टि करते हैं, जब प्रभुका जन्म होता है, तब इन्द्रादिक देवोंका आसन कम्पायमान होता है, तीनों लोकके जीवोंमें क्षोभ और कुछ समयके लिये शांति उत्पन्न हो जाती हैं, तब वे इन्द्रादिक देव उस महां प्रभुका अवतार हुवा जानकर उत्सव करते हैं, प्रभुको मेरुगिरि पर ले जाकर अभिषेक करते हैं, नाचते हैं, गाते हैं, वादित्र बजाते हैं, जयजयकार करते हैं, पश्चात् जब प्रभुको संसारसे बैराग्य होता है, तब देवऋषि आकर स्तुति करते हैं, फिर इन्द्रादिक देव प्रभुका अभिषेक करके निकटके किसी बनमें प्रभुको ले जाते हैं, वहांपर प्रभु संसारके स्वरूपका चिंतवन करके (अनुप्रेक्षावोंका चिंतवन करके) अपने शरीर परसे सब वस्त्राभूषणोंको उतार देते हैं, और सिद्ध परमेष्टीको नमस्कार करके ध्यानमें निमग्न हो जाते हैं, उसीसमय प्रभुको मनःपर्यय ज्ञान होता है और इन्द्रादि देव स्वस्थानको चले जाते हैं, पश्चात् तप और ध्यानके प्रभावसे घातिक कर्मोंको क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, और फिर इन्द्रादिक देवोंकर निर्मापित सभा (समवसरण*) में स्थित होकर चतुर्गतिके जीवोंको दुःखसे छुड़ानेवाले सच्चे धर्म (मोक्षमार्ग) का उपदेश करते हैं। और आयुका निःशेष होते ही सिद्ध पद प्राप्त करते हैं।

यद्यपि ये अवतारिक पुरुष अर्थात् तीर्थंकर कहाते हैं परन्तु

* तीर्थंकरके गर्भादि पंचकल्याणक और समवसरणका वर्णन अन्यान्तरोंमें जैसे रत्नकरंड या धर्मसंग्रहश्रावकाचार, आदिनाथ पुराण, समवशरण आदि विधानमें) विस्तार सहित लिखा है वहांसे देखो।

इससे यह न मान लेना चाहिये कि इनके सिवाय और कोई उस परमपदको नहीं पा सक्ता है। किन्तु जो उस मार्गका अवलम्बन करता है, वही प्राप्त कर सक्ता है। इसप्रकार अर्हंत देवका संक्षिप्त रीतिसे वर्णन किया। ऐसे देवकी भक्ति (उपासना), पूजादि स्तवन, गुण कीर्तन, भजन चिंतवन करनेसे अपने आत्मामें भी दिव्य शक्ति उत्पन्न होती है, अपने पुरुषार्थका ध्यान होता है, और अपने आपको भी उस अविनाशी अखंड सच्चिदानन्द स्वरूप परमपदके प्राप्त करनेकी इच्छा प्राप्त होती है, संसारके विनाशिक विषयजनित सुखोंमे घृणा और भय उत्पन्न होता है, दुर्वासनायें मनमें स्थान नहीं बनाने पाती हैं, चित्त प्रफुल्लित रहता है, कायरता, भय, मोह शोक, मदादि दोष पलायन कर जाते है, उपसर्ग और परीषहोंमे चित्त विचलित नहीं होता है, साहस, बल, दृढ़ता, गंभीरता बढ़ती है, बुद्धि निर्मल होती है, ज्ञानानुभव बढ़ता है, दया, क्षमा, शील, संतोष, विनय, निष्कपटता, प्रेम, उत्साह, श्रद्धा, निराकुलता, इत्यादि अनेकानेक गुण दिनोंदिन बढ़ते हैं।

इसलिये अर्हद्भक्ति नाम भावनाका चितवन अवश्य करना चाहिये। यद्यपि इससमय साक्षात् अर्हन्त भगवान नहीं हैं, तो भी उनके गुण और पवित्र चरित्रके चिंतवन करनेके लिये स्मारकरूपसे तदाकार मूर्ति बनाकर मंत्रोंके द्वारा प्रतिष्ठित करके कि उत्तम एकान्त स्थानमें स्थ कर उसके साम्हने अर्हन्तके गुणोंका स्तवन (चिंतवन) करके अर्घ उतारण करनेसे भी अर्हद्भक्ति नाम भावना हो सक्ती है। यद्यपि उस बिंब (मूर्ति) के साम्हने पूजन अर्हंत

हीका होता है न कि मूर्तिका किया जाता है जैसा कि बहुतसे लोग मान बैठे हैं।

मूर्ति तो जड़ है, कुछ जड़की पूजा थोड़े ही की जाती है, पूजा तो की जाती है उस जीवनमुक्त (सशरीर=सकल परमात्मा) अर्हन्त प्रभुकी जो कि सच्चिदानन्द चैतन्य स्वरूप है, और यह मूर्ति उसकी **अंतिम अवस्थाका स्मरण** करानेवाली है, इसलिये इसके सन्मुख पूजन, स्तवनादि करनेमें जड़ मूर्तिका नहीं किन्तु चैतन्य प्रभु अर्हन्तहीकी पूजा स्तवन समझना चाहिये। कारणसे कार्यकी सिद्धि होती है, इसलिये वीतरागमुद्रारूप मूर्तिके दर्शनसे ही वीतराग भावोंकी सिद्धि होती है। तात्पर्य-मूर्ति ध्यानादि अर्हन्त गुण चिंतवनके लिये निमित्त कारण है, और उपादान कारण तो अपने ही भाव हैं, इनका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। इसलिये साक्षात् अर्हन्त देवके अभावमें उनकी अंतिम ध्यानावस्थाकी परम दिगम्बर वीतराग, शांतिमुद्रायुक्त मनुष्याकार मूर्ति स्थापित करके ही अर्हन्त पूजन, स्तवन, करना चाहिये। इसीको अर्हद्भक्ति नाम भावना कहते हैं।

इसप्रकार अर्हद्भक्ति भावनाका स्वरूप कहा, अब आचार्य-भक्ति भावनाका स्वरूप कहते हैं-

[११] आचार्यभक्ति भावना।

आचार्यभक्ति भावना—अर्थात् दीक्षा शिक्षा देनेवाले गुरुकी उपासना करना।

आचार्य—गुरु (प्राणियोंको असत् मार्गमें छुड़ाकर सत्मार्गमें लगानेवाले, और लगे हुवे दोषोंसे प्रायश्चित्तादि विधिद्वारा संस्करण करनेवाले संघाधिपति) को कहते हैं।

संघाधिपति—दो प्रकारके होते हैं, एक गृहस्थ और दूसरे निर्ग्रन्थ। गृहस्थ संघाधिपति भी दो प्रकारके होते हैं, एक तो वे जो गृहस्थोंको विद्या, और कलाकौशल्यकी शिक्षा देते हैं, तथा गर्भादि संस्कार कराते हैं। इन्हें **गृहस्थाचार्य** कहते हैं। ये लोग स्वतंत्र रीतिसे निरपेक्ष विद्या पढ़ाते, कलाकौशल्य सिखाते, नीतिमार्ग (व्यवहार धर्म)का उपदेश करते, और गर्भाधानादि षोड़स संस्कार कराते, तथा प्रतिष्ठादि यज्ञ क्रिया करवाते हैं। और शिष्योंके द्वारा प्राप्त भेंट (द्रव्य)में संतोषवृत्ति धारणकर अपना और अपने कुटुम्बका पोषण करते हैं। कभी किसीसे कुछ भी याचना नहीं करते हैं। अपने सदाचारके प्रभावसे ही लोगोंको आज्ञाकारी बनाते हैं।

दूसरे संघाधिपति गृहस्थ—राजा होता है, जो स्वयं सदाचारी होकर अपनी प्रजाको विद्या, बल, बुद्धि और पराक्रमसे वश करके असत् मार्गसे रोककर सत् मार्गपर चलाता है और परचक्र कृत प्रजापर आये हुवे उपसर्गों (उपद्रवों)को अपने बल व बुद्धिसे

दूर कर प्रजाकी रक्षा और धर्मकी तथा नीतिकी प्रवृत्ति करता है। राजा अपना प्रभाव सदाचारसे भी प्रजापर डालता है, और कभी आवश्यकता होनेपर दण्डनीतिका भी अवलम्बन करता है क्योंकि बिना भयके आज्ञा प्रवृत्ति नहीं होती है, सो विद्वान तो परलोक भय या पापके भयसे असत् मार्ग छोड़ देते हैं, परंतु जनसाधारण मूर्ख बिना इसलोकभय अर्थात् दण्डनीति (ताड़न करना) के असत मार्गसे नहीं फिरते हैं। इसलिये राजाको यह करना ही पड़ता है। यदि राजा ऐसा न करे अर्थात् दुष्टोंको दण्ड न देवे तो सज्जन सुष्ठ पुरुषोंका रहना ही कठिन हो जाय, संसारसे धर्म और नीति उठ जाय, लोग स्वच्छंद होकर मनमाने कार्य किया करें। दीन हीन निर्बल प्राणियोंका जीवन निर्वाह भी होना दुष्कर हो जाय, "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाली कहावत चरितार्थ हो जांय, इत्यादि। इसलिये प्रत्येक संघमें संघाधिपति तो अवश्य ही चाहिये।

जिसप्रकार गृहस्थोंमें संघाधिपति होते हैं, उसीप्रकार साधुवोंमें भी संघाधिपति होना आवश्यक है, इसे कोई कोई आचार्य निर्ग्रन्थाचार्य, महंत, सूर, गुरु, आदि अनेक नामोंसे पुकारते हैं। यद्यपि संघके सभी साधु निर्ग्रन्थ अट्ठावीस मूलगुणधारी होते हैं,

* पंच महाव्रत समितिपंच, आवश्यक षट जान । इन्द्रियें दमन अरु भू शयन, सकृद्भुक्ति पान ॥ उभय असन ते स्वाद बिन, करें न दांतन पान । केश उपाड़े हाथसे, तज अम्बर स्नान ॥ अट्ठावीस गुण मूल ये, कहे साधुके सार । उत्तर अन्य चौरासि हैं, देखो मूलाचार ॥ (दीप)

तो भी भावोंकी विचित्र गति है। ग्यारहवें गुणस्थान तक चढ़ करके पीछे पड़कर अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल तक पुनः यह प्राणी संसारमें भटकता फिरता है। फिर संघमें बाल (तुरंतके= नवीन दीक्षित) युवा (कुछ समयके दीक्षित) और वृद्ध (बहुत समयके दीक्षित) सबल, निर्बल, स्वस्थ, अस्वस्थ (रोगी), थोड़े पढ़े और विशेष पढ़े विद्वान, अनेक देशोंके, अनेक प्रकारकी प्रकृतिके धारी, इत्यादि होते हैं। उनसे आहार, विहार, समय कितनेक कारणोंसे तपादि चारित्रमें दोष लग जाते हैं, गुप्ति भंग हो जाती है, कर्मके उदयसे अथवा अन्य कारणोंसे परस्परमें राग द्वेष आदि कषाय उत्पन्न हो जाती है संघका पक्ष पड़ जाता है, पठन-पाठनमें शिथिलता हो जाती है, इत्यादि अनेक कारणोंसे धर्ममार्गमें रोड़ा अटक जानेका सन्देह रहता है। ऐसी अवस्थामें यदि संघमें कोई एक सुयोग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका ज्ञाता, न्याय नीति और धर्मशास्त्रका पारगामी, धीर वीर, शांत स्वभावी, दर्शन ज्ञान चारित्र तप और वीर्य ये पंचाचारपरायण, बाह्याभ्यंतर बारह प्रकारके तप, दशलक्षण रूप (उत्तमक्षमादि) धर्ममें लवलीन, मन, वचन और काय इन तीनों गुप्तियोंका यथावत् पालनेवाला, शत्रु मित्रमें, महल स्मशानमें, कांच और मणिमें, जीवन और मरणमें समभावी, संघ पर प्रेम (वात्सल्य) रखनेवाला, जिनाज्ञाका प्रवर्तक, संसार परिभ्रमणसे भयभीत, षटावश्यकमें सावधान, दीक्षा शिक्षा प्रायश्चित्त आदिका देनेवाला, समस्त संघकी सम्हाल रखने

वाला, वैयावृत्यमें निपुण इत्यादि उत्तम गुणोंसे भूषित संघाधि-पति अर्थात् आचार्य न हो तो मार्ग बिगड़ जाय, धर्मकी प्रवृत्ति उठ जाय, अनेक प्रकारके उन्मार्ग फैल जाय इत्यादि बहुत अनर्थ उत्पन्न हो जांय इसलिये संघमें आचार्यका होना आवश्यक है।

ऐसे परम दिगम्बर संसारसमुद्रसे भव्य प्राणियोंको तारनेवाले जहाजके समान आप भी तरें और औरोंको भी तारें ऐसे श्री महा मुनिराज आचार्य महाराजकी भक्ति उपासना स्तवनकीर्तन (गुणानुवाद गाना) इत्यादि करना, पूजा करना, अर्घ उतारण करना, प्रत्यक्ष व परोक्ष वंदना नमस्कार करना, उनके द्वारा उपदेश किये हुवे मार्ग पर चलना, उनके निकट अपने किये हुवे दोषोंकी आलोचना करके प्रायश्चित्त लेना, उनकी आज्ञा शिरोधार्य करना, इत्यादि सो आचार्यभक्ति है।

गृहस्थाचार्य व राजादिक तो केवल परलोक सम्बन्धी पथप्रदर्शक हैं परंतु ये निर्ग्रन्थाचार्य उभयलोक सम्बन्धी पथप्रदर्शक हैं।

राजाकी आज्ञा तो येन केन प्रकारेण मानना ही पड़ती है, परंतु आचार्य महाराज तो किसीपर बलात्कार आज्ञा नहीं करते हैं। निर्ग्रन्थाचार्योंका प्रभाव तो उनके सम्यक् चारित्रसे ही पड़ता है। कारण आचार्य महाराज केवल दूरसे ही पथ नहीं दिखाते किन्तु आप स्वयम् उसपर चलकर औरोंको दिखाते हैं। संसारमें "पर उपदेश कुशल बहु तेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥" की उक्तिको चरितार्थ करनेवाले तो बहुत है, परन्तु दिगम्बराचार्योंकी

उपमाको केवल वे ही धारण कर सक्ते हैं। तात्पर्य—वे अनुपम हैं, अतएव ऐसे आचार्योंकी पूजा भक्ति करना आवश्यक है। ऐसे आचार्योंकी पूजा भक्ति उपासना स्तवन वंदन करनेसे सदाचारकी प्रवृत्ति होती है, धर्म और धर्मीजनोंमें प्रेम बढ़ता है, ज्ञानानुभव होता है, घने दिनोंकी शंकावों और दुर्वासनावोंका नाश होता है, इत्यादि अनेक लाभ होते हैं। इसलिये अपना आदर्श ऐसे ही महा मुनियों—आचार्योंको ही बनाना चाहिये। जैसा गुरू वैसा ही चेला, "यथा राजा तथा प्रजा" होती है। कहा है—"गुरू कीजिये जान, पानी पीजे छान" यदि शंका करो कि इस कालमें तो ऐसे गुरु हैं ही नहीं तब क्या विना गुरू निगुरे ही बने रहें? जैसा मिले वैसा ही गुरू बना कर आम्नायकी प्रवृत्ति क्यों न करें? तो उत्तर यह है कि भूख भोजनसे ही मिटती है। कहीं भोजनके अभावमें ईंट पत्थर नहीं खाया जा सक्ता है। यदि ईंट पत्थर या विषादिक खाया जायगा, तो शीघ्र ही मरण हो जायगा। इसलिये यदि सच्चा गुरू न मिले तो पूर्वकालमें हो गये जो श्रीकुन्दकुन्दादि महामुनि तिनहीके आदर्श चरित्रोंका ध्यान करो, स्तवन वंदन करो, उन्हें ही आदर्श बनाये रहो। निगुरे तो तब कहावोगे, जबकी गुरुको न मानोगे, परन्तु तुम्हारे जैसे परम तपस्वी निःग्रन्थ ज्ञानी ध्यानी सतपथदर्शी गुरु तो कदाचित् ही किसीको मिलेंगे, तब ऐसे गुरूवोंके स्थानमें स्वार्थान्ध अज्ञानी विषयी कषायी पुरुषोंको पूजना चाहिये? नहीं नहीं, कभी नहीं पूजना चाहिये। हमारे गुरू वे ही

कुन्द स्वामी हैं, समन्तभद्र स्वामी है, नेमिचन्द्र स्वामी हैं, गौतम गणेश हैं, स्वधर्म स्वामी हैं, इत्यादि। हमें उन्हींकी उपासना करना चाहिये। उनके प्रत्यक्षमें अभाव होनेसे उनके उपदेशसे ही लाभ लेना चाहिये, और परोक्ष विनयभक्ति करना चाहिये, उनकी छवि उतार कर साम्हने रखना चाहिये। यही आचार्य भक्ति है कल्याणकारी है। ऐसे आचार्यभक्ति नाम भावनाका स्वरूप कहा, अब बहुश्रुतिभक्ति नाम भावनाको कहते हैं—

[१२] बहुश्रुतिभक्ति भावना।

बहुश्रुतिभक्ति—अर्थात् उपाध्याय महाराजकी पूजा उपासना करना। उपाध्याय उन महा मुनियोंको कहते हैं, जिनको सम्पूर्ण द्वादशांग वाणीका पूर्ण ज्ञान हो, इन्हें ही बहुश्रुति या श्रुत केवली कहते हैं। ये स्वयम् आचार्य महाराजके पास बैठकर पढते-तत्वचर्चा करते हैं, और आचार्य महाराजकी आज्ञाप्रमाण अन्य शिष्यगणोंको पढ़ाते हैं, इसलिये इन्हें पाठक भी कहते हैं। यद्यपि आचार्यसे विद्यामें ये कुछ न्यून नहीं होते हैं, तो संघकी मर्यादानुसार संघका एक ही संचालक होता है। आचार्यमें और उपाध्यायमें केवल इतना ही भेद है कि आचार्य तो संघका नायक समझा जाता है, और संघमें उसकी आज्ञाकी प्रवृत्ति चलती है, वह दीक्षा शिक्षा व प्रायश्चित्तादि देनेका अधिकारी होता है, और उपाध्या-

यको ये अधिकार नहीं होते हैं। संघमें आचार्य तो एक ही होता है, परन्तु उपाध्याय तो बहुत भी रहते हैं, विद्यामें आचार्यके समान होते हुवे भी मर्यादाका उल्लंघन न करके आचार्यकी आज्ञाप्रमाण ही चलते हैं। और जब अपनी सामर्थ्य और परीणामोंकी दृढ़ता देखते हैं, तो आचार्यकी आज्ञासे अन्य संघमें भी जाते हैं, और एकाविहारी भी हो जाते हैं। मूलगुणोंमें तो सबकी समानता ही होती है किन्तु कषायोंके उपशमादि तीव्रता मंदताके अनुसार कदाचित कुछ उत्तरगुणोंमें अन्तर हो भी सक्ता है। ऐसे श्री परम दिगम्बर ज्ञानसागरके पारदर्शी श्री उपाध्याय महाराजकी भक्तिपूजा नमस्कार गुणानुवाद करनेसे आत्मज्ञानकी प्राप्ति होती है-भक्तिश्रद्धा, नम्रतादि गुणोंकी प्राप्ति होती है। इसलिये सदा मन वचन और कायसे श्री उपाध्याय प्रभूकी भक्ति उपासना करना चाहिये। इसप्रकार बहुश्रुतिभक्ति नाम भावनाका स्वरूप कहा। अब प्रवचनभक्ति भावनाको कहते हैं-

[१३] प्रवचनभक्ति भावना।

प्रवचनभक्ति—अर्थात् जिनागम (जिनेन्द्र भगवानका कहा हुवा धर्म=जिनवानी)की भक्ति, उपासना, पूजा, स्तवनादि करना। जब यह जीव ज्ञानावरणादि चार घातिकर्मोंका नाश करके केवलज्ञानको प्राप्त होता है तब अपने ज्ञान तथा दर्शनसे जाने और देखे हुवे,

पदार्थोंका यथावत् स्वरूप अपनी दिव्यध्वनि द्वारा संसारी प्राणियोंके कल्याणार्थ कहता अर्थात् उपदेश करता है। उनकी वह वाणी अनक्षरी मेघगर्जनाके समान दिनमें तीन बार छः छः घड़ी तक खिरती है। इसी वाणीको लेकर गणधर (गणेश या गणपति) आदि चार ज्ञानके धारी मुनीन्द्र द्वादशांग रूप कथन करते हैं। फिर परम्पराचार्य हीन ज्ञानी जीवोंके सम्बोधनार्थ भेद प्रभेद रूपमें सूत्र, भाष्य, टीका टिप्पणी सहित स्वतन्त्र प्रकाशित करते हैं। इसे ही जिनवाणी व जिनागम, व **प्रवचन** आदि कहते हैं। पूर्वकालमें जब द्रव्य क्षेत्र काल भावोंकी अनुकूलता थी, तब इस क्षेत्रमें अनेक दिगम्बर मुनियोंके संघ यत्र तत्र धर्मोपदेश करते हुवे विचरते थे, परन्तु कालदोषसे अब दिगम्बर साधुओंका समुदाय दृष्टि गोचर नहीं होता है, इसलिये धर्मकी परम्परा जिनवाणी द्वारा ही चलती है। **महावीरस्वामीके** मोक्ष जाने बाद तीन केवली और पांच श्रुतकेवली हुवे। उसके बाद दिनोंदिन ज्ञानका विच्छेद होने लगा, तब जो दिगम्बर ऋषि उससमय इस क्षेत्रको अपने चरण रजसे पवित्र करते थे, उन्होंने विचारा कि कालदोषसे दिनों दिन ज्ञानकी न्यूनता होती जाती है इसलिये यदि कुछ समय और भी गया तो सत्य धर्मका लोप हो जायगा, कल्याणकारी जैन धर्मको लोग अपने अपने कषाय बुद्धि अनुसार दूषित करके प्राणियोंको उन्मार्गमें फंसावेंगे इत्यादि, ऐसा समझकर ग्रन्थोंमें लेखन रूप किया उन्हींका आधार लेकर पीछे बहुतसे ग्रन्थोंकी रचना की गई।

इसलिये जो महानुभाव इन पवित्र ग्रन्थोंको मन वचन कायसे भक्ति और श्रद्धापूर्वक अर्थ उतारण कर पढ़ते हैं, दूसरोंको पढ़ाते हैं, दूसरोंसे सुनते हैं, और दूसरोंको सुनाते हैं, वेही सच्चे कल्याणके मार्गको प्राप्त होते हैं। वे सम्यग्दर्शनको प्राप्त होकर सम्यग्ज्ञानको प्राप्त होते हैं, और सम्यक्+चारित्रको धारण करके अविनाशी पद (मोक्ष)को प्राप्त होते हैं। इसे ही श्रुतभक्ति नाम भावनाका स्वरूप कहा, अब आवश्यकापरिहाणी नाम भावनाका स्वरूप कहते हैं -

(१४) आवश्यकापरिहाणी भावना।

आवश्यकापरिहाणि अर्थात् सामायिक, वंदन, स्तवन, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन ६ नित्यावश्यक क्रियाओंमें हानि शिथिलता नहीं करना। आवश्यक अर्थात् नियत कृत्य (जरूरीकाम)को कहते हैं, इन ६ कृत्य इसलिये आवश्यक (नियत) हैं, इनसे आत्माकी शुद्धि होती है कर्माश्रवके द्वार रागद्वेष कम होते हैं, सात्विकता प्राप्त होती है, पापोंसे क्षय होता है, पुण्यकी वृद्धि होती है, प्रमाद तथा विषयकषायोंके द्वारा लगे हुवे

* विशेष वर्णन शास्त्रान्तरोंका अनुसार स्थानें देखो।

× देखो सार्वधर्म नोट न. ?

दोषोंका निराकरण होता है, इत्यादि अनेक लाभ होते हैं। इसलिये इनको नित्य प्रति करना चाहिये।

प्रथम ही सामायिक कहा है, सामायिकसे प्रत्येक पदार्थमें समभाव करना पड़ता है, मन वचन कायकी शुभाशुभ प्रवृत्तिको रोककर शत्रु मित्र, महल स्मशान, मणि कांच, तृण कंचन, सुख दुख, जीवन मरण, स्वजन परजन, रंक श्रीमान, राजा प्रजा इत्यादिमें रागद्वेष रहित समभाव धारण करना—अर्थात् यह विचार करना कि मैं इन पदार्थोंसे भिन्न सच्चिदानन्द स्वरूप अखंड अविनाशी चैतन्य स्वयंभू हूं, और यह जोकुछ दृष्टिगोचर होता है, सो सब मोह दृष्टिसे पौद्गलिक विकार है, इससे मेरा संयोग सम्बन्ध अनादि कालसे हो रहा है, समवाय सम्बन्ध नहीं है क्योंकि ये सब मुझसे भिन्न हैं, और तो क्या यह शरीर भी (जिसमें मैं वर्तमानमें मिल रहा हूं) मेरा नहीं है, तो फिर अन्य पदार्थ तो भिन्न ही हैं, इनमें रागद्वेष करके अपने सच्चिदानन्द स्वरूप आत्माको क्यों दुखी करूं इत्यादि भावोंके द्वारा साम्य भाव धारण करना है, यही सामायिक है। इससे आश्रवका द्वार संकीर्ण होता जाता है अर्थात् संवर होता है।

(२) स्तवन—चतुर्विंशत् तीर्थंकरों व पंचपरमेष्टीके गुणानुवाद गाना, अर्थात् उनके गुणोंको स्मरण करके प्रशंसा—स्तुति करना, सो स्तवन है। जैसे स्वयंभू सहस्रनामादिस्तोत्रका सार्थ मनन करना।

(३) वंदन—किसी एक तीर्थंकर अथवा एक परमेष्टीकी स्तुति भक्ति नमस्कारादि करना सो वन्दन है। जैसे भक्तामर महावीराष्टक

पार्श्वनाथस्तोत्रादि सार्थ (अर्थ समझ समझ कर) मनन करना। इससे यह अभिप्राय नहीं है, कि अमुक कविका बनाया हुवा अमुक स्तोत्र ही पढ़ा जाय, किन्तु उक्त आशयको लिये हुवे कोई भी स्तोत्र किसीका किया हुवा भाषामें हो व संस्कृत प्राकृत (जो भलीभांति समझमें आवे) चाहे स्वयम् भक्तिवश रच कर तैयार किया हो, सब पढ़ सक्ता हैं।

(४) **प्रतिक्रमण**—अपने किये हुवे अर्थात् प्रमादादि कषायोंके कारण लगे हुवे दोषोंका स्मरण करके, स्वात्म निंदा करते हुवे, उन दोषोंके परिहारार्थ, अपने गुरूके निकट अथवा गुरूके अभावमें जिन प्रतिमाके सन्मुख अथवा किसी एकान्त स्थानमें बैठ कर **आलोचना** करे और यथोचित **प्रायश्चित्त** लेवे, ताकि किये हुवे पापोंसे निवृत्ति मिले—निराकुलता हो, इसे ही प्रतिक्रमण कहते हैं।

(५) **प्रत्याख्यान**—भविष्यमें यमरूप (यावज्जीव) अथवा नियमरूप (कुछ कालकी मर्य्यादा लिये हुवे) पापक्रियावोंका त्याग करे, प्रतिज्ञा करे, ताकि मन और इन्द्रियां वशमें हों। इसे प्रत्याख्यान कहते हैं।

(६) **कायोत्सर्ग**—शरीरसे ममत्व त्याग कर मनको सब ओरसे रोककर किसी एक स्थानमें लगाना, जहां तक हो पर पदार्थोंसे भिन्न अपने आत्मामें स्थिर करना (इसे शुक्लध्यान कहते हैं) यदि इतना न हो सके तो तत्व चिंतवन या जिनेन्द्र गुण

स्तवन आदिमें लगावे (इसे धर्मध्यान कहते हैं) और ध्यानके समयमें आये हुवे उपसर्ग तथा परीषहादिकोंसे विचलित न होवे, किन्तु उन्हें कर्मजनित उपाधि जान कर स्थिर रहे, मन वचन और कायको चलायमान न होने देवे । इसे कायोत्सर्ग कहते हैं।

इस प्रकारसे ये छः आवश्यक स्वशक्ति अनुसार गृहस्थ व साधुको नित्य प्रति करना चाहिये ।

गृहस्थके लिये देवपूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये छः कर्म भी कहे हैं, जो कि यथाशक्ति नित्यप्रति करना आवश्यक हैं। ये छः उपरकी भावनावोंमें गर्भित हो चुके हैं इसलिये यहां पृथक् करके विशेष रूपसे नहीं कहे हैं। जैसे **देवपूजा** अर्हद्भक्तिमें, **गुरुसेवा** आचार्य व बहुश्रुति भक्तिमें, **तप** तपभावनामें, **दान** त्यागभावनामें आचुका है । **संयम**-पांचों इन्द्रियोंको विषयोंसे रोककर वश करना, और **स्वाध्याय**—आत्मज्ञानको बढ़ानेवाले तथा पापादि क्रियावोंसे विरक्त करनेवाले सच्छास्त्रोंका (ग्रन्थोंका) पढ़ना पढ़ाना, मनन करना, धारण करना, और उपदेश करना । इसप्रकारसे ये षडावश्यक भी नित्यप्रति पालन करना चाहिये। और पालन करनेवालोंमें भक्ति व प्रेम करना चाहिये। अर्घ उत्तारण करना चाहिये। इसप्रकार आवश्यकापरिहाणि भावनाका स्वरूप कहा। अब मार्गप्रभावनाका स्वरूप कहते हैं—

* ध्यानका विशेष स्वरूप 'ज्ञानार्णव' ग्रन्थमें देखो ।

(१५) मार्गप्रभावना भावना ।

मार्गप्रभावना—अर्थात् सम्यक् रत्नत्रय मोक्षमार्ग (जिन-धर्म)का प्रकाश जिस प्रकार हो सके, सर्वसाधारणमें फैला देना। ऐसा ही स्वामी समंतभद्राचार्यने कहा है—

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम् ।
जिनशासनमहात्म्यप्रकाशः स्यात् प्रभावना ॥१८॥

(रत्नकरंड श्रावकाचार अ० १)

अर्थात्—जिससमय अज्ञानतिमिर (मिथ्या मतोंका प्रचार) चहुं ओर व्याप्त हो रहा हो और पवित्र जैनधर्मका अभावसा हो रहा हो, उस समय जिस प्रकारसे हो सके वैसे जैनधर्मका महात्म्य प्रकाशित कर देना सो ही प्रभावना है।

प्रभावनासे अर्थात् जैनधर्मके प्रचारसे अपने आत्मामें उदारता बढ़ती है, प्रभावनासे प्रशंसा करा लेनेका ही अभिप्राय नहीं है, क्योंकि जब किसी पदार्थकी भलाई या बुराई सर्वोपरि प्रगट हो जाती है, तब स्तुति किंवा निंदा तो स्वयमेव होती ही है। इसलिये प्रशंसा प्राप्त कर लेनेसे ही कुछ लाभ नहीं है न जैनानुयायी जीवोंकी संख्या ही बढ़ानेके विचारसे प्रभावना करनेकी आवश्यकता है किन्तु प्रभावना इसलिये करना चाहिये, ताकि बिचारे संसारके दीन प्राणी जो जो जन्म मरण आदिके अनेक भव सम्बन्धी दुःख चतुर्गतिमें भ्रमण कर भोग रहे हैं और मोहवश पर पदार्थोंमें

अपनत्व धारण कर निज स्वरूपको भूले हुवे हैं वे पवित्र जैनधर्मके प्रभावसे स्वस्वरूपका श्रद्धान कर रत्नत्रय मार्ग ग्रहण कर अपना कल्याण करें। समस्त संसारमें—

सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वं।
माध्यस्थभावं विपरीत वृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव॥

(अमितगति आचार्यकृत सामयिकपाठ)

का नक्कारा बजने लगे ताकि संसारके सभी प्राणी निर्भय हुवे सुखसे काल व्यतीत करें। अर्थात् **सब जीवमात्र परस्पर प्रेम-भावसे रहें,** अपनेसे गुणवान पुरुषों विनय और प्रमोदभावको धारण करें और उनके गुणोंका अनुकरण करें, न कि डाह (द्वेष) रखें, दीन दुखी असहाय जीवोंपर करुणा (दया) भाव रखें और जो विपरीत मार्गावलम्बी हैं. और जिनको सन्मार्गका उपदेश करनेसे वे उल्टे कलुषित होते हैं, ऐसे जीवोंमें क्रोधादि भाव न करके मध्यस्थ भाव धारण करना चाहिये, इत्यादि भाव जब सब जीवोंपर फैल जांयगे तो स्वयमेव परस्परका द्वेषभाव मिट जावेगा, परस्पर एक दूसरेके मित्रवत सहायक हो जांयगे, इस लोक सम्बन्धी सुखों (धनादि) की भी वृद्धि होगी, और परलोकमें भी कषायोंकी मंदतासे देवगति आदि उत्तम गतिको प्राप्त होंगे, तथा अनुक्रमसे **निर्वाण पद** भी प्राप्त होगा। तात्पर्य कहनेका यह है कि जैनधर्मका प्रचार (प्रभावना) समस्त प्राणियोंके कल्याणहीके लिये उत्कृष्ट भावोंसे करना चाहिये।

प्रभावना—द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भावोंके अनुसार

भिन्न भिन्न रीतियोंसे होती है अर्थात् विद्वान पुरुष तो तत्वचर्चासे प्रसन्न होते हैं, उन्हें न्याय व युक्ति, प्रमाण, नय, इत्यादिके द्वारा पदार्थका स्वरूप समझा देनेसे वे असत पक्षको छोड़कर सन्मार्गपर आ जाते हैं। एक विद्वानके सन्मार्गपर आनेसे उसके अनुयायी भी प्रायः सन्मार्गमें लग जाते हैं। क्योंकि वह विद्वान अपने अनुयायियोंको किसप्रकार समझाना चाहिये यह भलीभांति जानता है इसलिये उसके समझने पर वह अपने अनुयायियोंको भी अनेक युक्ति द्वारा समझा कर सन्मार्गमें लगा सक्ता है। ऐसा ही पूर्वकालमें हमारे ऋषियोंने किया है, **अग्रवाल** व **हुमड़ोंके** इतिहाससे विदित होता है, कि **लोहाचार्य** आदि महामुनियोंने अपने उपदेशासे लाखों मनुष्योंको हिंसादि पापोंसे छुड़ाकर जैनी बनाया था इसलिये सबसे उत्तम और प्रथम उपाय तो प्रभावनाका यही है, कि अच्छे अच्छे विद्वान द्रव्य क्षेत्र काल और भावके ज्ञाता, धर्मके मर्मज्ञ, सदाचारी, अनुभवी, उदार, संतोषी, मंद कषायी, इत्यादि सद्गुणी उपदेशकों द्वारा शहरोंशहर, ग्रामोंग्राम और **देशोंदेशमें हरसमय दौरा कराकर उपदेश करावें** और उपदेशकोंको निराकुल करके उपदेश करने भेजें ताकि वे किसीसे कुछ यांचना न करें। क्योंकि " **लोभ पापका बाप बखाना** " जहां किसीसे उपदेशकोंने कुछ भी यांचना की, कि उपदेशका महत्व उनपर नहीं पड़ सक्ता है, वे उपदेशकोंको तुच्छ (भिक्षुककी) दृष्टिसे देखने लगते हैं, और डरते हैं, कि कहीं कुछ मांग न बैठे इत्यादि, क्योंकि यथार्थमें यह कार्य पूर्वकाल अधिकतर प्रायः मुनियोंके ही द्वारा होता था। वे

महां तपस्वी धीर वीर स्वयम् अपने घरकी अतुल सम्पत्ति (राज्यादि विभव) छोड़कर अपने आत्माके कल्याणार्थ समस्त परिग्रहसे ममत्व रहित हुवे, स्वाद रहित अल्प भोजन (जोकि श्रावकों द्वारा विना यांचना भक्ति सह दिया जाय) करते हुवे देश देशान्तरोंमें भ्रमण करके जीवोंके कल्याणार्थ उपदेश करते थे, वे केवल उपदेश नहीं करते थे किन्तु उपदिष्ट मार्गपर चलकर दिखाते थे, उनका उपदेश निरपेक्ष बुद्धिसे सब जीवोंके लिये समानतासे होता था । वे पात्रका विचार कर उसके योग्य ही उपदेश देते थे, किसीसे उन्हें ग्लानि न होती थी, उन्होंने दुर्गन्धादि चाण्डालों व पशुवों तकको उपदेश देकर सम्यक्त्व अंगीकार कराया तथा व्रतादि देकर उनको सन्मार्गमें लगाया है । यही कारण था, कि उनका प्रभाव सिंह व्याघ्रादि जैसे हिंसक प्राणियोंपर भी पड़ता था, वे क्रूर प्राणी उनके दर्शनसे ही क्रूरता छोड़ देते थे । यद्यपि आजकल हमारे अशुभोदयसे उनका अभाव है, तो भी सद्गृहस्थों द्वारा यह कार्य अवश्य किसी न किसी अंशमें सफल हो सक्ता है । वर्तमान समयमें उपदेशकोंकी बहुत ही आवश्यकता है, अर्वाचीन **क्रिश्चियन** आदिके मतोंका प्रचार उपदेशकोंके ही द्वारा इतना बढ़ गया है, उनके **लाखों उपदेशक** यत्रतत्र विचरते हैं ।

दूसरा उपाय प्रभावनाका यह है कि जैनधर्मके ग्रन्थोंका प्रचार करना, प्रत्येक विषयके लेख ट्रेक्ट रूपसे छपाकर सर्वसाधारणमें बंटवाना चाहिये । पुस्तकालय, बाचनालय और विद्यालय खोलना चाहिये, समाचारपत्रोंमें प्रभावक लेखोंको लिखकर प्रकाशित

करना चाहिये। प्राचीन ग्रन्थोंका संरक्षण और पठनपाठन तथा प्रकाशन होना चाहिये।

तीसरा उपाय यह है कि बड़े बड़े सम्मेलन करके विद्वानोंके विद्वतापूर्ण धार्मिक, सामाजिक और नैतिक उन्नतिविधायक व्याख्यान कराना चाहिये। और ऐसे अवसरोंपर अन्यमती विद्वानों द्वारा की हुई जैनपर शंकावोंका निराकरण करना चाहिये।

चौथा उपाय—संघ निकालना अर्थात् तीर्थादि पर्यटनके लिये बहुत जनसमुदाय सहित निकलना, संघमें विद्वान पंडित तथा उदार वृत्तिके सच्चरित्रव्रती त्यागी पुरुष रहें, स्थान स्थानपर जहां जाना वहां उनके व्याख्यान कराना, ताकि उनकी विद्या और चारित्रका प्रभाव जनसाधारणपर पड़े।

पांचवा उपाय—प्राचीन जैन मंदिरोंका जीर्णोद्धार कराकर अथवा यदि जिस स्थानमें जैन मंदिर न हो, और जिन दर्शनाभिलाषी जनों (श्रावकों)की संख्या अधिक हो, और वहांपर पूजन प्रक्षाल आदिका प्रबन्ध यथोचित चल सके, तो उस क्षेत्रके अनुसार जैन मंदिर बनवाकर उसकी प्रतिष्ठा करवाना, और जिन भगवानके पंच कल्याणकोंका उत्सव कराकर सर्वोपरि जैनधर्मका प्रभाव फैलाना, पंचकल्याणकका भाव अच्छीतरह सबको दिखाना, ताकि लोग यह समझ जांय कि ऐसे २ तीर्थंकर सदृश महान् पुण्यात्मा कि जिनके गर्भजन्मादिके समय देवोंने रत्न वर्षाये, अनेक उत्सव किये, जिनके सेवक देव और देवेन्द्र विद्याधर और बड़े बड़े राजा महाराजा थे, सो भी तीन लोककी विभूतिको

तृणवत् निःसार समझकर छोड़ गये, उन्हें मृत्यु और जन्मसे भय हो गया, वे भी कर्मके बन्धनसे डर गये, और इसलिये जिनदीक्षा ग्रहण कर आप तो संसारसे परे हो ही गये और हम लोगोंको भी कल्याणका मार्ग बता गये हैं। सो जब कि मौतने उन्हें भी नहीं छोड़ा, कर्म उनके पीछे भी लगा रहा था, कि जिसके लिये उन्हें यह त्रैलोककी विभूति विनाशीक जानकार छोड़ना पड़ी, तो भला हम दीन शक्तिक्षीण पुण्यहीन जनोंको गिन्ती ही क्या है ? अवश्य ही हमको एक दिन काल कवल कर जावेगा, और यह समस्त परिग्रह पुत्र कलत्र गृह धन धान्यादि यहीं पड़ा रह जावेगा. केवल स्वकृत पाप व पुण्यकर्म ही साथ जावेगा, यह शरीर भी गल सड़कर ढेर हो जावेगा, इसलिये हमको भी जो मार्ग प्रभु दिखा गये हैं, उसी सत् पथमें लग कर अपना कल्याण करना चाहिये इत्यादि इत्यादि। और ऐसे अवसरोंपर भी त्यागी विद्वानोंका समागम मिलाना चाहिये। उनके व्याख्यान और तत्त्वचर्चा होनी चाहिये, उत्तमोत्तम तत्त्वोपदेशी भजन पद गाना, भक्तिवश जिन भगवानके साम्हने स्तवनादि करना, पूजन करना, बड़े बड़े त्रेशठ शलाकादि पुरुषोंके जीवनचरित्र लोगोंको सुनाना, इत्यादि प्रकारसे प्रभावना करना चाहिये। यथार्थ मंदिरादि बिंब प्रतिष्ठाओंका यही अभिप्राय है, न कि ज्यों त्यों करके मंदिरोंकी संख्या बढ़ा देना।

छठवां उपाय—जैनियोंकी ओरसे सर्वसाधारणके हितार्थ उदारतापूर्वक जैन धर्मशालायें, छात्राश्रम, अनाथालय, विद्यालय,

उद्योगशालायें, गुरुकुल, ब्रह्मचर्य्याश्रम, श्राविकाश्रम, पुत्रीशालाएं, गौशाला, पांजरापोल आदि जीवदयाप्रचारक संस्थाएं खोली जांय और समान प्रकारसे सबको लाभ पहुंचाया जाय, । प्रत्येक संस्थामें कुछ समय धर्मशिक्षाका आवश्यक रीतिसे नियत रहे और सुयोग्य विद्वान द्वारा शिक्षा दिलाई जाय ।

सातवां उपाय—कुछ तीक्ष्ण बुद्धि विद्यार्थियोंको छात्रवृत्ति देकर बड़े बड़े विद्यालयोंमें, कारखानोंमें, विदेशोंमें भेज कर तैयार किये जांय ताकि वे काम सीखकर आवें और अपनी अनुभवित विद्या और बुद्धि द्वारा दूसरोंको लाभ पहुंचावे इत्यादि, यही सप्त क्षेत्र प्रभावनाके है । तात्पर्य यह है कि जिसतरह बने उसतरहसे जैन धर्मका प्रकाश करना वही प्रभावना है, इसप्रकार प्रभावनांगका स्वरूप कहा, अब वात्सल्यांगको कहते हैं—

(१६) प्रवचनवत्सल्य भावना ।

प्रवचनवत्सल्यत्व—अर्थात् साधर्मी तथा प्राणी मात्रमें निष्कपट भावसे प्रेम करना, और सदा उनकी भलाई चाहना—यथाशक्ति आदर सत्कार करना । ऐसा ही स्वामी समंतभद्राचार्यने कहा है—

स्वयुथ्यान् प्रति सद्भावसनाथा पेत कैतवा ।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यम् वात्सल्यमभिलप्यते ॥१०॥

(रत्नकरंड श्रावकाचार अ० १)

अपने सहधर्मी (मुनि अर्जिका श्रावक श्राविकावों) के प्रति उत्तम भावोंसे छलकपट रहित यथायोग्य आदरसत्कार करना, भक्ति तथा प्रेम प्रदर्शित करना, सो वात्सल्य अंग है। अर्थात् मुनि तथा आर्यिका तो अपने आप कल्याणके मार्गमें गमन करके औरोंको भी मार्ग दिखाते हैं, उनका आदरसत्कार तो केवल इतना ही है, कि जब वे अपने रत्नत्रयके साधनभूत शरीरकी रक्षार्थ आहारके लिये विहार करते हुवे आवें, तो उन्हें नवधा भक्ति करके शुद्ध प्रासुक निर्दोष (छयालिस दोष रहित) आहार देना, कमंडलुमें अष्ट प्रहरकी मर्यादवाला प्रासुक जल भर देना, शौचोपकरण (कमंडलु), दयोपकरण (पीछी) और ज्ञानोपकरण (शास्त्र पुस्तकादि) आवश्यकतानुसार भेंट करना, अथवा आर्यिकाजीको यदि आवश्यक हो तो एक सफेद मोटे कपड़ेकी साड़ी भेंट कर देना, यदि मुनि व आर्यिकाके शरीरमें कोई वात पित्त कफादि विकारजनित पीड़ा मालूम पड़े तो भोजनके समय शुद्ध प्रासुक उनके योग्य औषधि व पथ्याहार देना, उनकी विनय करना और उनके द्वारा किये हुवे उपदेशको ध्यानपूर्वक सुन कर धारण करना इत्यादि, यही उनका आदरसत्कार है। कुछ उन्हें रुपया मुहर वस्त्राभूषण आदि पदार्थ तो चाहिये ही नहीं। उन्हें तो केवल संयम साधनार्थ आयुके अंत तक शरीरको रस नीरस भोजन कर रक्षा करना है। इसलिये भक्ति सह उनका उनके पदके अनुसार ही सत्कार करना चाहिये। क्योंकि धर्मात्माके कारण ही धर्मकी प्रवृत्ति होती है, सो यदि मुन्यादिका सत्कार न करेंगे तो वह मार्ग बंद हो जायगा, फिर कोई मुनिव्रत धारण ही न करेगा, तब यथार्थ मोक्षकी भी प्रवृत्ति

न रहेगी। और श्रावक तथा श्राविकावोंका आदरसत्कार भी उनके पद (योग्यता)के अनुसार (कि वे कौनसी प्रतिमाके धारी हैं) करे। अर्थात यदि वे उत्तम श्रावक **दशमी व ग्यारहवीं प्रतिमाधारी** श्रावक होंवे, तो भोजन कोपीन खंड वस्त्र पीछी कमंडलु शास्त्रादि भेंट करके सत्कार करना। और मध्यम व जघन्य श्रावक हों तो उसीप्रकार भोजन, वस्त्र, गृह, पूंजी, औषधि, शास्त्र इत्यादि जो उन्हें आवश्यक होवे भेंटकर निराकुल करे, उनसे प्रेमपूर्वक वर्ताव करे, इसीप्रकार यदि अविरती, सम्यक्त्वी गृहस्थ हो तो उसका भी आवश्यकतानुसार भोजन वस्त्रादिसे सन्मान करके उपदेशपूर्वक प्रेमसे कुछ व्रतादि ग्रहण करावे। और जो धर्मसे पराङ्मुख (अजैन) हो तो उससे भी प्रेमपूर्वक वर्ताव करके, भोजन वस्त्रादि अनेक प्रकारसे सत्कार कर उपदेशपूर्वक सम्यक् रत्नत्रय मार्ग ग्रहण करावे। तथा पशु पक्षी आदि दीन निर्बल प्राणी व मनुष्यादि दुःखी दरिद्रियोंका यथाशक्ति प्रेमसे दयासे उपकार करे, उनकी जीविकादिका उपकार लगा देवे इत्यादि अनेक प्रकारसे जैसे बने वैसे "**उदार चरितानांतु वसुधैव कुटुम्बकम्**"की नीतिका पालन करते हुवे संसारके प्राणीमात्रके दुःखोंको अपना ही दुःख समझकर उनके दुःख मोचनका उपाय करे। कहा है कि—

मर गये इन्शान वे जो मर गये अपने लिये।
पर अमर इन्शां हुवे जो मर गये परके लिये॥

तात्पर्य—यों तो सभी मरते हैं, जीते हैं, जन्मते हैं परंतु भर्तृहरिजीके कथनानुसार कि—

परिवर्तनसंसारे मृतः को वा न जायते ।
स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ॥

परिवर्तनरूप संसारमें कौन नहीं जन्मता व मरता है परंतु मरना व जन्मना उसीका सार्थक है कि जिसने अपनी जाति तथा वंशकी उन्नतिमें जीवन लगाया है । यथार्थमें जो परके दुःखको दूर करके अपने आपको सुखी मानते हैं वे पुरुष धन्य हैं । इसप्रकारके प्रेम व भक्तिभावको वात्सल्य भाव कहते हैं ।

वात्सल्यता धारण करनेसे परस्परमें प्रेम, उदारता, सच्चरित्रतादि गुण बढ़ते हैं, प्राणी परस्पर सहानुभूति करना सीखते हैं, रागद्वेष घटनेसे सुखकी वृद्धि होती है, कार्यका मार्ग सरल हो जाता है, विघ्न और विघ्नोंका भय नहीं रहता है, क्योंकि जब कोई शत्रु ही नहीं रहेगा, तो विघ्न कौन करेगा इत्यादि अनेक लाभ होते हैं ।

यथार्थमें संसारका कार्य भी विना वात्सल्यभावके नहीं निकल सक्ता है । तात्पर्य—वात्सल्यतासे उभय लोक सम्बन्धी हित साधन होता है, और चित्त सदा प्रसन्न रहता है, कभी भी निरुत्साहता नहीं आने पाती है ।

इसलिये प्रत्येक मनुष्य स्त्री इत्यादि सभीको यह वात्सल्य गुण धारण करना चाहिये, परंतु स्मरण रहे कि यह वात्सल्यता किसी स्वार्थ व मान मायादि कषायोंकी पुष्टिके लिये न होना चाहिये, किन्तु निःस्वार्थ भावोंसे होना चाहिये ।

इसप्रकार प्रवचनवत्सल्यत्व नाम भावनाका स्वरूप कहा ।

ऊपर कही हुई षोडश भावनाओंका यथार्थ पालन करनेसे और तो क्या किन्तु तीर्थंकर पदकी प्राप्ति होती है इसलिये यथाशक्ति प्रत्येक नरनारियोंको धारण करना चाहिये ।

सोलहकारन महिमा।

दोहा—षोड़स कारण गुण करे, हरे चतुर्गति बास।
पाप पुण्य सब नाशके, ज्ञान भानु प्रकाश ॥१॥

चौपाई।

दर्शन विशुद्धि धरे जो कोई। ताको आवागमन न होई ॥
विनय महां धारे जो पाणी। शिव वनिता की सखिय बखाणी ॥२॥
शील सदा दृढ़ जो नर पाले। सो औरन की आपदा टाले ॥
ज्ञान अभ्यास करे मन माहीं। ताके मोह महातम नाहीं ॥३॥
जो सम्वेग भाव विस्तारे। स्वर्ग मुक्ति पद आप निहारे।
दान देय मन हर्ष विशेखे। यह भव यश पर भव सुख देखे ॥४॥
जो तप तपै खपै अभिलाषा। चूरै कर्म शिखर गुरु भाषा ॥
साधु समाधि सदा मन लावै। तिहु जग भोग भोगी शिव जावै ॥५॥
निशि दिन वैयावृत्य करैया। सो निश्चय भव नीर तरैया ॥
जो अर्हन्त भक्ति मन आनै। सो नर विषय कषाय न जानै ॥६॥
जो आचारज भक्ति करै है। सो निर्मल आचार धरै है ॥
बहुश्रुतिवंत भक्ति जो करई। सो नर सम्पूरण श्रुत धरई ॥७॥
प्रवचन भक्ति करै जो ज्ञाता। लहै ज्ञान परमानन्द दाता ॥
षट् आवश्य काल जो साधै। सो ही रत्नत्रय आराधै ॥८॥
धर्म प्रभाव करै जो ज्ञानी। तिन शिव मारग रीति पिछानी ॥
वत्सल्यांग सदा जो ध्यावै। सो तीर्थंकर पदवी पावै ॥९॥

दोहा—एही सोलह भावना, सहित धरै व्रत जोय ।
देव इन्द्र नर वंद्य पद, द्यानत शिवपद होय ॥१०॥

इति षोडश भावना कथन संक्षेपतः सम्पूर्णम्।

बदि अषाढ़ तिथि मार्गणों, संवत् वीर जिनेश ।
तीर्थंकरै हन घातियाँ, कियो धर्म उपदेश ॥१॥
लेख पूर्ण ता दिन कियो, निज परको हितकार ।
षोड़सकारण भाव यह, दीपचन्द परवार ॥२॥

पुष्पांजलि व्रत कथा ।

दोहा—वीरदेवको प्रणमि कर, अर्चा करूं त्रिकाल ।
पुष्पांजलि व्रतकी कथा, सुनो भव्य अघ टाल ॥ १ ॥

॥ चौपाई ॥

पर्वत विपुला चल पर आय । समोशरण जिनवरका पाय ।
तहँ सुन राजा श्रेणिक राय । वन्दन चले प्रिया सुत भाय ॥ २ ॥
वन्दन कर पूछे नृप तबै । हे प्रभु पुष्पांजलि व्रत अबै ।
मोसे कहो करूं चितलाय । कौने करो कहा फल आय ॥ ३ ॥
बोले गौतम बचन रसाल । जंबूद्वीप मध्य सो विशाल ।
सीता नदी दक्षिण दिशि सार । मंगलावती सुदेश अपार ॥ ४ ॥

दोहा—रत्न संचयपुर तहां, वज्रसेन नृप आय ।
जयावती वनिता लसे, पुत्र विहीनी थाय ॥ ५ ॥

॥ चौपाई ॥

पुत्र चाह जिन मंदिर गई। ज्ञानोदधि मुनि बंदित भई ।
हे मुनिनाथ कहो समझाय । मेरे पुत्र होइ के नाय ॥ ६ ॥

दोहा—मुनि बोले ये बालकी, पुत्र होइ शुभ सार ।
भूमि छ खंड सुसाधि है, मुक्तितनो भरतार ॥ ७ ॥
सुनके मुनिके बचन तब, उपजो हर्ष अपार ।
क्रमसे पूरे मांस नव, पुत्र भयो शुभ सार ॥ ८ ॥
यौवन वय सो पायके, क्रीड़ा मंडप सार ।
तहां व्योमसे आइयो, खग भूपर तिस बार ॥ ९ ॥
रत्नशेखरको देखकर, बहुत प्रीति उरमाहि ।
मेघवाहन ने पांच सौ, विद्या दीनी ताहि ॥ १० ॥

॥ चौपाई ॥

दोनों मित्र परस्पर प्रीति । गये मेरु बन्दन तज भीति ।
सिद्धकूट चैत्यालय वंदि । आये पञ्च चित्त आनंदि ॥ ११ ॥
ताकी सखी जनाई सार । बेग स्वयम्बर करो तयार ।
भूरि भूप आये तत्काल । माल रत्नशेखर गल डाल ॥ १२ ॥
धूमकेतु विद्याधर देख । क्रोध कियो मन मांहि विशेष ।
कन्याकाज दुष्टता धरी । विद्याबल बहु माया करी ॥ १३ ॥
रत्नशेखरसे युद्ध सो करो । बहुत परस्पर विद्या धरो ।
जीतो रत्नशेखर तिस बार । पाणिग्रहण कियो व्यवहार ॥ १४ ॥
मदनमजूषा रानी संग । आयो अपने ग्रेह अभंग ।
बज्रसेनको कर नमस्कार । मात तात मन सुक्ख अपार ॥ १५ ॥

एक दिना मंदिर गिरि योग । पहुंचे मित्र सहित सब लोग ।
चारण मुनि बंदे तिहिबार । सुनो धर्म चित भयो उदार ॥ १६ ॥
हे मुनि पूर्व जन्म सम्बन्ध । तीनोंके तुम कहो निबन्ध ।
तब मुनि कहें सुनों चित धार । एक मृणाल नगर सुखकार ॥१७॥
नृप मंत्री एक तहां श्रुति कीर्ति । बन्धुमती बनिता अति प्रीति ।
एक दिना बन क्रीड़ा गयो । नारी संग रमत सो भयो ॥ १८ ॥
पापी सर्पसो भक्षण करी । मंत्री मृतक लखी निज नरी ।
भयो विरक्त जिनालय जाय । दिक्षा लीनी मन हर्षाय ॥ १९ ॥
यथा शक्ति तप कुछ दिन करो । पीछे भ्रष्ट भयो तप टरो ।
गृह आरंभ करन चित ठनो । तब पुत्री मुख ऐसे भनो ॥ २० ॥
तात जो मेरु चढ़ो किहि काज । फिर भवसिंधु पड़े तज लाज ।
यों सुन प्रभावती वचसार । मंत्री कोप कियो अधिकार ॥ २१ ॥
तब विद्याको आज्ञा करी । पुत्रीको ले वनमें धरी ।
विद्या जब बनमें लेगई । प्रभावती मन चिंता भई ॥ २२ ॥
अरहंत भक्ति चित्तमें धरी । तब विद्या फिर आई खरी ।
हे पुत्री तेरा चित जहां । वेग बोल पहुंचाऊं तहां ॥ २३ ॥
पुत्री कही कैलाशके भाव । जिनदर्शनको अधिक ही चाव ।
पूजा करके बैठी वहां । पद्मावती आई सो तहां ॥ २४ ॥
इतने मध्य देव आइयो । पद्मावती तब पूछन लयो ।
हे देवी कहिये किस काज । आये देवी देव सु आज ॥ २५ ॥
पद्मावती बोली वचसार । पुष्पांजलि व्रत है सु अवार ।
भादों मास शुक्ल पंचमी । पंच दिवस आरंभन अमी ॥ २६ ॥

प्रोषत यथाशक्ति व्यवहार । पूजो जिन चौबीसों सार ।
नाना विधिके पुष्प जो लाय । करो एक माला जो बनाय ॥२७॥
तीन काल वह माला देय । बहुत भक्तिमे विनय करेय ।
जपो जाप शुभ मंत्र विचार । या विधि पंच वर्ष अवसार ॥२८॥
उद्यापन कीजे पुनिसार । चार प्रकार दान अधिकार ।
उद्यापनकी शक्ति न होय । दूनो व्रत कीजे सो लोय ॥ २९ ॥
यह सुन प्रभावती व्रत लयो । पद्मावती कृपा कर दयो ।
स्वर्गमुक्ति फलका दातार । है यह पुष्पांजलि व्रत सार ॥ ३० ॥
दोहा—पद्मावती उपदेशसे, लीनो व्रत शुभ सार ।
पृथ्वी परसो प्रकाशिके, कियो भक्ति चित धार ॥ ३१ ॥
तप विद्या श्रुति कीर्तिने, पाई अति जो प्रचंड ।
प्रभावती व्रत खंडने, आई सो बलबंड ॥ ३२ ॥

चौपाई ।

बासर तीन व्यतीते जबे । पद्मावति आई पुनि तबे ॥
विद्या सब भागी तत्काल । करो संन्यास मरण तिसवाल ॥ ३३ ॥
कल्प सोलहवें मध्य सो जान । देव भयो सो पुण्य प्रवाण ॥
तहां देवनें कियो विचार । मेरा तात भ्रष्ट आचार ॥३४॥
मैं संबोधों वाको अबे । उत्तम गति वह पावे तबे ॥
यही विचार देव आइयो । मरण संन्यास तातको कियो ॥ ३५ ॥
वाही स्वर्ग भयो सो देव । पुण्य प्रभाव लयो फल एव ॥
बन्धुमती माताका जीव । उपजा ताही स्वर्ग अतीव ॥ ३६ ॥

दोहा—प्रभावतीका जीव तू, रत्नशेखर भयो आय ।
माताका जो जीव है, मदन मजूषा थाय ॥ ३७ ॥

॥ चौपाई ॥

श्रुतिकीर्तिको जीव जो तहां । मंत्री मेघवाहन है यहां ।
ये तीनोंके सुन पर्य्याय । भई सो चिंता अंगन माय ॥ ३८ ॥
सुन व्रत फल अरु गुरुकी बानि । भयो सुचितव्रत लीनो जानि ।
अपने ठान बहुरि आइयो । चक्रवर्ति पद भोग सु कीयो ॥ ३९ ॥
समय पाय वैरागसो भयो । राजभार सब सुतको दयो ।
त्रिगुप्ति मुनिके चरणों पास । दिक्षा लीनी परम हुलास ॥ ४० ॥
रत्नशेखर दिक्षा ली जबै । भये मेघवाहन मुनि तबै ।
भवि जीवोंको अति सुखकार । केवल ज्ञान उपार्जो सार ४१ ॥
घाति कर्म निर्मूल सु करे । पाछे मुक्तिपुरी अनुसरे ।
याविधि व्रत पाले जो कोई । अजर अमर पद पावे सोई ॥ ४२ ॥

इति श्री पुष्पाञ्जलि व्रत कथा सम्पूर्णम् ॥

पुष्पांजलि व्रत कथन ।

(अड़िल्ल)

भादोंतें वसु चैत मास परयंतही, तिनके सित पषमें व्रत पुष्पांजली कही ।
पंचमतें उपवास पांच नवमी लगै, किये पुण्य उपजाय पाप सगरे भगै ॥
अथवा पांचै नवमी वास दुयही करै, छट सात दिन आठै तिहुं कांजी करै ।
छठि आठैं एकंत वास तिहु कीजिए, दोय वास एकंत तिनहू लीजिए ॥

दोहा—पांच बरष लो वरत यह, कर त्रिशुद्धता धार ।
तातैं फल उत्कृष्ट है, यामें फेर न सार ॥